वार्षिक रु. १६०, मूल्य रु. १७

ISSN 2582-0656

विवेक ज्योति

वर्ष ५८ अंक ५ मई २०२०

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (छ.ग.)

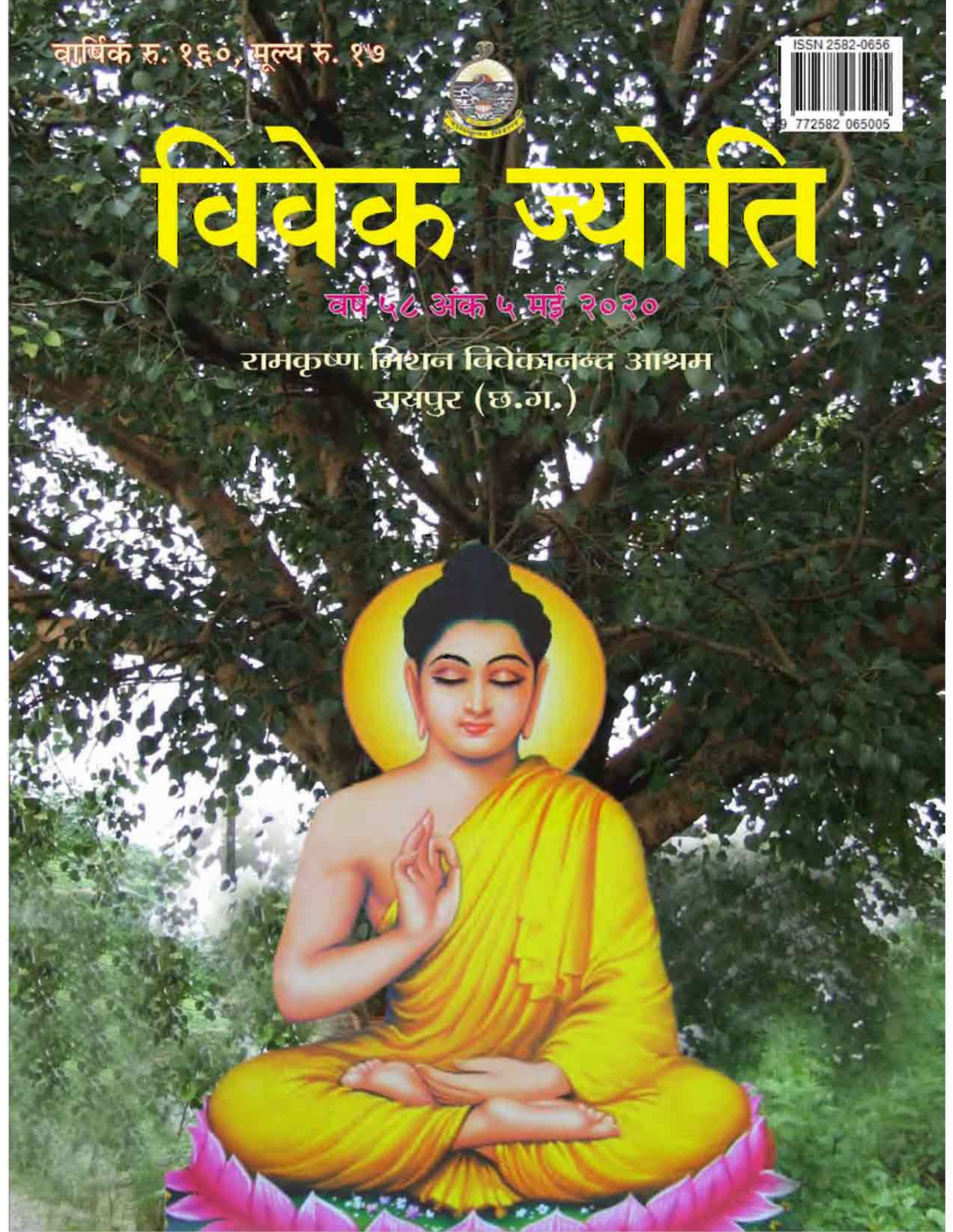

।। आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च।।

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

मई २०२०

प्रबन्ध सम्पादक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी प्रपत्त्यानन्द

सह-सम्पादक
स्वामी पद्माक्षानन्द

व्यवस्थापक
स्वामी स्थिरानन्द

वर्ष ५८
अंक ५

वार्षिक १६०/– **एक प्रति १७/–**

५ वर्षों के लिये – रु. ८००/–
१० वर्षों के लिए – रु. १६००/–
(सदस्यता-शुल्क की राशि इलेक्ट्रॉनिक मनिआर्डर से भेजें अथवा **ऐट पार** चेक – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ
अथवा निम्नलिखित खाते में सीधे जमा कराएँ :
सेन्ट्रल बैंक ऑफ इन्डिया, **अकाउन्ट नम्बर** : 1385116124
IFSC CODE : CBIN0280804
कृपया इसकी सूचना हमें तुरन्त केवल ई-मेल, फोन, एस.एम.एस., व्हाट्सएप अथवा स्कैन द्वारा ही अपना नाम, पूरा पता, **पिन कोड** एवं फोन नम्बर के साथ भेजें।
विदेशों में – वार्षिक ५० यू. एस. डॉलर;
५ वर्षों के लिए २५० यू. एस. डॉलर (हवाई डाक से)

संस्थाओं के लिये –
वार्षिक रु. २००/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. १०००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)
विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
ई-मेल : vivekjyotirkmraipur@gmail.com
वेबसाइट : www.rkmraipur.org
आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, ४०३६९५९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)
रविवार एवं अन्य अवकाश को छोड़कर

अनुक्रमणिका

१. बुद्धदेव-वन्दना १९७
२. पुरखों की थाती (संस्कृत सुभाषित) १९७
३. सम्पादकीय : आये थे हरि भजन को ओटन लगे कपास १९८
४. संघं शरणं गच्छामि (स्वामी ब्रह्मेशानन्द) २००
५. विनम्रता की मूर्ति : भगवती श्रीमाँ सारदा (स्वामी चेतनानन्द) २०५
६. निवेदिता की दृष्टि में स्वामी विवेकानन्द (४१) २०८
७. यथार्थ शरणागति का स्वरूप (८/६) (पं. रामकिंकर उपाध्याय) २१०
८. दृग्-दृश्य-विवेक: (१२) २१३
९. (बच्चों का आंगन) बीरबल साहनी (ब्रह्मचारी विमोहचैतन्य) २१४
१०. सन्त रविदासजी की दार्शनिक चेतना (डॉ. रामनिवास) २१६
११. आध्यात्मिक पथ पर तो हमें स्वयं ही चलना होगा (स्वामी सत्यरूपानन्द) २२१
१२. गीतातत्त्व-चिन्तन - ५ (नवम अध्याय) (स्वामी आत्मानन्द) २२२
१३. (युवा प्रांगण) क्या आप आधुनिक हैं? (स्वामी ओजोमयानन्द) २२४
१४. सारगाछी की स्मृतियाँ (९१) (स्वामी सुहितानन्द) २२९
१५. (कविता) उसका जीना भी क्या जीना (भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश') २३०
१६. (प्रेरक लघुकथा) वेश-भूषा का प्रभाव (डॉ. शरद चन्द्र पेंढारकर) २३१
१७. मेरे जीवन की कुछ स्मृतियाँ (२९) (स्वामी अखण्डानन्द) २३२
१८. आध्यात्मिक जिज्ञासा (५३) (स्वामी भूतेशानन्द) २३४

ISSN 2582-0656

१९. साधुओं के पावन प्रसंग (१७)
(स्वामी चेतनानन्द) २३५
२०. समाचार और सूचनाएँ २३७

मई माह के जयन्ती और त्योहार

७	बुद्ध पूर्णिमा
२५	महाराणा प्रताप

आवरण-पृष्ठ के सम्बन्ध में

भगवान बुद्ध का यह चित्र इंटरनेट से लिया गया है।

विवेक ज्योति के अंक ऑनलाइन पढ़ें : www.rkmraipur.org

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) **विवेक ज्योति कार्यालय से प्रतिमाह सभी सदस्यों को एक साथ पत्रिका प्रेषित की जाती है। डाक की अनियमितता के कारण कई बार पत्रिका नहीं मिलती है। अतः पत्रिका प्राप्त न होने पर अपने समीप के डाक-विभाग से सम्पर्क एवं शिकायत करें। इससे अनेक सदस्यों को पत्रिका मिलने लगी है।** पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। **अंक उपलब्ध रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।**

(४) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

विवेक-ज्योति स्थायी कोष

दान दाता	दान-राशि
१. श्री मधुकर एस. आगले, बुलढाणा (महा.)	१,००१/-
२. डॉ. अरूण राजाराम चौधरी, जलगाँव (महा.)	१,०००/-
३. श्री उदय राजाराम चौधरी, जलगाँव (महा.)	१,०००/-
४. श्री बालासाहेब चांदवडकर, नासिक (महा.)	१,००१/-
५. श्री मानकलाल कौरव, नरसिंहपुर (म.प्र.)	१,०००/-
७. श्रीमती पूनम श्रीवास्तव, प्रतापगढ़ (उ.प्र.)	२,०००/-
८. श्री आर.पी. सिंह, देवास (म.प्र.)	१०,०००/-

क्रमांक	विवेक ज्योति पुस्तकालय योजना के सहयोग कर्ता	प्राप्त-कर्ता (पुस्तकालय/संस्थान)
५९७.	श्री अजय कुमार अवस्थी, टिकरापारा, रायपुर (छ.ग.)	अधी.पो.मैट्रिक अनु.जाति बालक छात्रावास,बुरहानपुर (मप्र.)
५९८.	श्री आर.पी. सिंह, मक्सी रोड, देवास (म.प्र.)	शा. उ. मा. विद्यालय, पो.-मानहड़, जिला - भिंड (म.प्र.)
५९९.	,, ,,	शा. उ. मा. विद्यालय, पो.-ढिल्ला, जिला - निवाड़ी (म.प्र.)
६००.	,, ,,	शा. बालक उ.मा. विद्यालय, पो. तराना,जि.-उज्जैन (म.प्र.)
६०१.	,, ,,	शा. उ.मा. विद्यालय, पो.-मकड़ोन, जि.-उज्जैन (म.प्र.)
६०२.	,, ,,	नगर पालिका सार्वजनिक पुस्तकालय,पो.तराना,उज्जैन (म.प्र.)

।। आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च।।

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

वर्ष ५८ मई २०२० अंक ५

बुद्धदेव-वन्दना

बद्ध्वा पद्मासनं यो नयन-
युगमिदं न्यस्य नासाग्रदेशे
धृत्वा मौनं च शान्तौ
समरसमिलितौ चन्द्रसूर्याख्यवातौ।
पश्यन्नन्तर्विशुद्धं किमपि
च परमं ज्योतिराकारहीनं
सौख्याम्भोधौ निमग्नः
स दिशतु भवतां ज्ञानबोधं बुधोऽयम्।।

– पद्मासन में विराजमान, दोनों आँखों को नासिका के अग्रभाग में स्थित कर, मौन, शान्त तथा समभाव में स्थित सूर्य और चन्द्र नामक वायु को धारण कर, जो आकृतिविहीन किसी विशुद्ध परम ज्योति को अन्त:करण में देखते हुए सुख-समुद्र में निमग्न हैं, वही भगवान बुद्ध आप सबको ज्ञान-बोध प्रदान करें।

पुरखों की थाती

सन्तोषामृत-तृप्तानां यत्सुखं शान्तिरेव च।
न च तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्।।६८०।।

– सन्तोष के अमृत पान करके तृप्त हो जानेवालों को जिस सुख-शान्ति की उपलब्धि होती है, वह (सुख-शान्ति) धन के लोभ में इधर-उधर दौड़नेवालों को कदापि नहीं मिलती।

नात्यन्तं सरलेन भाव्यं गत्वा पश्य वनस्थलीम्।
छिद्यन्ते सरलास्तत्र कुब्जास्तिष्ठन्ति पादपाः।।६८१।।

– मनुष्य को बहुत अधिक सीधा भी नहीं होना चाहिये, क्योंकि वन में जाकर देखो – वहाँ जितने सीधे वृक्ष हैं, उन्हें काट लिया जाता है और टेढ़े-मेढ़े पेड़ वैसे ही छोड़ दिये जाते हैं।

अजीर्णे भेषजं वारि जीर्णे तद् बलप्रदम्।
भोजने चामृतं वारि भोजनान्ते विषप्रदम्।।६८२।।

– पेट में अपच होने पर जल दवा के समान होता है, पाचन ठीक हो तो जल शक्ति प्रदान करता है, भोजन करते समय जल अमृत है, परन्तु भोजन के बाद पीया हुआ जल विष के समान हानिकारक है।

मन्दोऽप्यमन्दतामेति संसर्गेण विपश्चितः।
पङ्कच्छिदः फलस्येव निकषेणाविलं पयः।।६८३।।

– जैसे रीठे के फल के संग से गँदला जल भी स्वच्छ हो जाता है, वैसे ही बुद्धिमानों का संग करने से मन्दबुद्धि लोगों की बुद्धि भी विकसित हो जाती है।

आये थे हरि भजन को ओटन लगे कपास

एक सज्जन हैं, वे सरकारी उच्च पद पर हैं। वे एक दिन मेरे पास आए। मैं अपने सम्पादकीय कार्यालय में था। उन्होंने मुझसे कहा – स्वामीजी! मैं एक विचित्र समस्या से परेशान हूँ। मैंने कहा – आप इतने सक्रिय, अनुशासित और सफल प्रशासक हैं, इतना बड़ा दायित्व सम्भाल रहे हैं। आपको कौन-सी समस्या आ गयी? दूसरे लोग अपनी समस्याओं के समाधान हेतु आपके पास आते हैं। आप उनलोगों की समस्याओं का सन्तोषप्रद समाधान भी करते हैं। जो भी हो, कहिए यदि मेरे वश की बात होगी, तो मैं आपकी सहायता करूँगा। उन्होंने कहा – ''मैं कमरे में जाकर भूल जाता हूँ कि यहाँ क्यों आया हूँ। कभी अपने कक्ष में बैठकर पढ़ रहा हूँ, हठात् आलमारी के पास चला गया, वहाँ जाकर सोचता हूँ कि यहाँ किसलिए आया! जब वहाँ से चला जाता हूँ, तब बहुत देर बाद याद आती है कि ये पुस्तक चाहिए थी, इसीलिए आलमारी के पास गया था। कभी ऑफिस में बैठा हूँ, किसी काम के लिए किसी कर्मचारी को फोन कर बुलाया। उसके आने के बाद यह भूल जाता हूँ कि उसे क्यों बुलाया था? वह आकर चला जाता है। बाद में जब पूछता हूँ कि तुम आए नहीं, तो वह कहता है – सर! मैं तो आया था, आप ही भूल गए थे कि क्यों बुलाए हैं? कभी-कभी तो कमरे से स्नानागार में जाता हूँ। वहाँ जाने पर सोचता हूँ, यहाँ क्यों आया हूँ? बहुत देर बाद याद आती है कि मैं तो कपड़ा धोने के लिए गया था। बताइए, अब मैं क्या करूँ?'' मैंने कहा कि यह स्मृति-दोष है, अवस्था बढ़ने के साथ-साथ सामान्यत: व्यक्ति की स्मृति दुर्बल होने लगती है। अधिक होने पर चिकित्सक से परामर्श ले सकते हैं।

'स्मृति-दोष' यानि भूलने की बीमारी। यह बीमारी कई कारणों से होती है। उसमें एक है, कार्याधिक्य। अत्यधिक कर्म की व्यस्तता। दूसरा है, अनावश्यक कार्य की जटिलता। तीसरा, यथोचित प्रबन्धन क्षमता का अभाव। चौथा है, वर्तमान विषय में सजगता का अभाव। पाँचवा, वर्तमान को छोड़कर केवल अतीत या भविष्य में रहना। मानसिक चंचलता, बुद्धि की विक्षिप्तता, भ्रामकता, अनावश्यक चिन्ताग्रस्त रहना इत्यादि। उपरोक्त विषयों से ग्रस्त लोग समय के पूर्व ही स्मृति-दोष के शिकार हो जाते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से विचार करने पर कुछ तथ्यों द्वारा स्मृति-दोष का कारण समझा जा सकता है। शारीरिक, मानसिक, मनोवैज्ञानिक आदि चिकित्सकीय कारण, तो इस विषय के विशेषज्ञ चिकित्सक ही अच्छी तरह से जानते हैं। इसका निदान भी चिकित्सक ही कर सकेंगे।

एक माताजी ने अपनी बड़ी रोचक एक स्मृति सुनाई थी। जिसमें वे कहती हैं – ''मेरे सास-ससुर, पति, ननद आदि विवाह के बाद ससुराल से बहुत दूर कुलदेवी के दर्शन-पूजन कराने के लिए पहाड़ी देवी मन्दिर में ले गए। नई दुलहन हमेशा घूँघट निकाले रहती है। उसे अधिक कुछ नहीं दीखता, वह अपने लोगों को देखकर ही जाती है। पूजा हो गई। दर्शनोपरान्त ट्रेन आने पर जल्दी-जल्दी सभी लोग कूदकर ट्रेन में बैठ गए। मुझे लेना ही भूल गए और ट्रेन चली गई। मैं कुछ जानती नहीं थी। उस समय मोबाइल का युग नहीं था। मैं चुपचाप चिन्तित हो वहीं बैठी रही। बाद में दूसरी ट्रेन से आकर मुझे ले गए।'' यह स्वार्थ की पराकाष्ठा है। केवल अपना ही ध्यान रखना। अपनी सुरक्षा-व्यवस्था में अपने प्रियजनों को भूल जाना, एक तरह की स्वार्थी वृत्ति है। अपने वर्तमान समुपस्थित उत्तरदायित्व के प्रति प्रमाद है।

इससे भी एक मजेदार घटना मैंने सुनी थी। एक युवक अपने पिताजी को स्कूटर पर बैठाकर बाजार से घर ले जा रहा था। कुछ दूर जाने के बाद एक मोड़ आया। उसने झटके से गाड़ी मोड़ी। उसके पिताजी वहीं रोड पर ही गिर गए। घर जाकर वह युवक कहता है – पिताजी उतरिए! पिताजी की कोई आवाज नहीं आई। अरे भाई, जब पिताजी हों, तब तो उतरें! जब कोई आहट न पाकर वह युवक पीछे घूमकर देखता है कि पिताजी उतर गए कि नहीं, तो वह स्तब्ध रह गया कि पिताजी तो हैं ही नहीं! उसने सोचा, मैंने कहीं गाड़ी रोकी नहीं, तो वे कहाँ छूट गए! वे कहाँ चले गए! चिन्तित होकर वापस रास्ते में जाकर देखा, तो पिताजी चौराहे पर बैठे थे। उन्होंने अपनी आप-बीती सुनाई। वह युवक उन्हें लेकर वापस घर आया। किन्तु यह उत्तरदायित्व और उद्देश्य के प्रति प्रमाद है, असावधानी है। इसीलिए घर के बड़े लोग किसी काम से बाहर जाने पर सिखाते हैं कि उस काम को सावधानीपूर्वक कैसे करना है। यद्यपि आधुनिक कुछ बच्चे अपने अभिभावकों को कह देते

हैं – क्या मैं इतना भी नहीं जानता कि मुझे कैसे कहीं जाना है और क्या करना है! मुझे अपनी शिक्षा मत दीजिये। बच्चों द्वारा अभिभावकों के परामर्श की ऐसी उपेक्षा के कारण ही आज की नई पीढ़ी के कुछ लोग इतने भ्रमित और दुखी हैं। इसका दुष्परिणाम सर्वविदित है।

मैं किसलिए आया था और किसके लिए आया था और जिसके लिए आया था, वह कार्य कर रहा हूँ या नहीं। मैं जिस वस्तु को लेकर चला था, वह मेरे साथ है कि नहीं, बीच-बीच में निरीक्षण करना अनिवार्य होता है।

प्रथमोक्त सज्जन तो चिकित्सकीय परामर्श हेतु चले गए। मेरा चंचल उपद्रवी मन सोचने लगा। यह समस्या उन सज्जन की ही नहीं है, यह तो प्राय: सबके साथ हो रहा है। भले ही लोग अपना सामान नहीं भूलते, लेकिन जिस उद्देश्य से भगवान ने कृपा कर सुदुर्लभ मानव-जन्म दिया, उस ईश्वर को सर्वाधिक लोग इस मायामय संसार में आकर भूल ही जाते हैं। जब तक सुख-सुविधा रहती है, अधिकांश लोग कभी भी भगवान को याद नहीं करते, न ही अपने सच्चे स्वरूप को जानने की चेष्टा करते हैं। यदि किसी संत-महात्मा, भक्त ने याद दिला दिया, तो कहते हैं – अभी बहुत समय है भक्ति करने के लिए, अभी से ही क्यों उसके पीछे पड़कर संसार की सुख-सुविधा से वंचित हुआ जाय, वह तो बुढ़ापे की बात है! अब कौन उनसे कहे कि क्या निश्चित है कि बुढ़ापा देख सकोगे? यहाँ तो 'खबर नहीं पल की' वाली स्थिति है और तुम शतवर्षीय योजना बना रहे हो।

इस सम्बन्ध में शंकराचार्य जी की वह पंक्ति हमें बार-बार स्मरण दिलाती है –

कस्त्वं कोऽहं कुत आयातः, को मे जननी को मे तातः।
इति परिभावय सर्वमसारं, विश्वं त्यक्त्वा स्वप्नविचारम्।।
भज गोविन्दं भज गोविन्दं, गोविन्दं भज मूढ़मते।।

अर्थात् अरे मूढ़! इस संसार को स्वप्न के समान असार समझकर इसका त्याग कर दो और यह विचार करो कि तुम कौन हो? मैं कौन हूँ, मैं कहाँ से आया हूँ, मेरे माता-पिता कौन हैं?

श्रीरामकृष्ण देव को नरेन्द्रनाथ (स्वामी विवेकानन्द) ने यह भजन गाकर सुनाया था –

जुड़ाइते चाइ जुडाइ कोथाय
कोथा होते आसी कोथा भेसे जाइ।।...

– मैं शान्ति पाना चाहता हूँ, लेकिन शान्ति नहीं मिल रही है। कहाँ से आता हूँ, कहाँ डूब जाता हूँ। मैं नहीं जानता कि यहाँ क्यों, कहाँ से आया हूँ। ...

शाम होने पर पक्षी अपने घोसलों की ओर उड़ने लगते हैं। सन्ध्या के समय किसान अपने बैलों को हल से खोलकर घर की ओर जाने लगते हैं। हे मानव! क्या तुम इन निरीह प्राणियों से भी थोड़ी-सी शिक्षा नहीं लेते कि हमें भी अपने घर जाना है। संसार-भूमि हमारा स्थायी घर नहीं है। यहाँ तो हम कुछ दिन के लिए यात्री हैं। हमें पुन: अपने सच्चे घर जाना है। हम शाम की प्रतीक्षा क्यों करें! हमें तो यथाशीघ्र अपने सच्चे धाम में जाना है। स्वामी विवेकानन्द जब प्रथम बार श्रीरामकृष्णदेव से मिले थे, तब उन्होंने जो भजन गाया था, उसमें वास्तविक निज निकेतन जाने की व्याकुलता स्पष्ट अभिव्यंजित हुई है –

मन चल निज निकेतन रे।
संसार देस में, विदेशी वेश में, भ्रमता किस कारण रे।।

जगत के अवतारों, आचार्यों और ऋषि-मुनियों ने बार-बार जन-मानस को उसके लक्ष्य, उद्देश्य, मानव-जन्म का प्रयोजन और उसकी दुर्लभता को स्मरण दिलाया है। क्योंकि ईश्वर ही हमारे सच्चे सुखधाम हैं। बिना उनकी अनुभूति किए हमें सच्ची शान्ति नहीं मिल सकती। लेकिन हमारा प्रमादी, विमूढ़ मन इसे न समझता है, समझकर भी स्वीकार नहीं करता है। जब सांसारिक दुखों, स्वजन के आघातों और कभी स्व विवेक-जागृति से उसे बोध होता है, तब उसे लगता है कि अरे हमने क्या किया! हमारा सारा समय व्यर्थ चला गया! हम तो 'आए थे हरि भजन को और ओटन लगे कपास!' ○○○

संघं शरणं गच्छामि

स्वामी ब्रह्मेशानन्द

रामकृष्ण अद्वैत आश्रम, वाराणसी

बुद्ध पूर्णिमा 'त्रिधन्य' दिवस के रूप में विख्यात है। तीन प्रकार से धन्य यह दिवस इसलिये है कि इसी दिन भगवान बुद्ध का जन्म हुआ था। इसी दिन उन्होंने बोधि या ज्ञान प्राप्त किया था तथा इसी दिन उन्होंने अपने पार्थिव शरीर का महापरिनिर्वाण में त्याग किया था। भगवान बुद्ध के माध्यम से मानव जाति तीन अमूल्य वस्तुओं को पाकर भी धन्य हुई है। वे हैं : भगवान बुद्ध का आदर्श एवं मानवता के लिए अनुकरणीय महान चरित्रवान व्यक्तित्व, बौद्ध धर्म तथा बौद्ध धर्म संघ। इन तीनों ने समग्र मानव जाति को ढाई हजार वर्षों तक प्रभावित किया है, और अभी भी कर रहे हैं। भगवान बुद्ध की जीवनी तथा उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म के बारे में अधिकांश लोग जानते हैं। लेकिन उनके द्वारा प्रतिष्ठित धर्म संघ के बारे में बहुत कम लोग जानते हैं। धर्म संघ की साधना तथा विस्तार की रोचक गाथा बौद्ध धर्म के मुख्य ग्रन्थों, विशेषकर विनय पिटक में विस्तार से पायी जाती है तथा उसका अध्ययन समाज में सक्रिय धर्म के विषय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जानकारी प्रदान करता है। प्रस्तुत लेख में बुद्ध द्वारा प्रतिष्ठित भिक्खु संघ की उत्पत्ति एवं विकास का क्रम प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है।

कठोर तपस्या के बाद बोध गया में बोधि वृक्ष के नीचे बैठे भगवान बुद्ध को निर्वाण या ज्ञान की प्राप्ति हुई। उस मुक्तावस्था के परमानन्द का आस्वादन वे सात दिन तक उसी स्थिति में बैठे-बैठे लेते रहे। उसके बाद तपस्सु व भाल्लिक नामक दो व्यापारी उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर उनके शिष्य बने। बुद्ध के सामने सविनय नतमस्तक हो उन्होंने कहा : बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि। ''मैं बुद्ध की तथा धर्म की शरण लेता हूँ।'' ये दो बुद्ध के प्रथम गृहस्थ शिष्य हुए। लेकिन बुद्ध ने उन्हें किसी प्रकार का उपदेश नहीं दिया।

इसी समय बुद्ध ने यह विचार किया कि मैंने जिस सत्य का साक्षात्कार किया है, वह गूढ़ एवं सामान्य लोगों की बुद्धि के द्वारा दुर्गम्य है। जिस अमरत्व को विशुद्ध आत्मा प्राप्त करते हैं, उसे अज्ञानी जन विनाश समझेंगे। जो जिनके लिए चिरजीवन है, उसे लोग मृत्यु समझते हैं, तथागत के परमानन्द को वे सर्वस्व का त्याग मानेंगे। वासना, राग व द्वेष से बंधे लोगों के लिए सत्य सदा आवृत रहता है। अत: ऐसे अनधिकारी लोगों को उपदेश देने से मुझे ही श्रम होगा, उन्हें कोई लाभ नहीं होगा।

इसी समय ब्रह्मा प्रजापति स्वर्ग से उतरकर बुद्ध के पास आये और वन्दना करने के बाद बोले – ''अगर तथागत धर्मोपदेश न देंगे, तो विश्व का विनाश हो जायेगा। दुखी जनों पर करुणा कीजिए, जो संघर्षरत है, उन पर कृपा कीजिए, संसार में फँसे जीवों पर दया करके धर्मोपदेश दीजिए। कुछ ऐसे जीव हैं, जो प्रारम्भ से ही पवित्रात्मा हैं। अगर उन्हें ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ, तो वे नष्ट हो जायेंगे, अगर प्राप्त हुआ, तो मुक्त हो जायेंगे।''

भगवान बुद्ध ने संसार के प्राणियों को करुण दृष्टि से देखा। उनमें उन्होंने ऐसे कुछ लोगों को देखा, जिनका मन सांसारिकता के कलुष से बहुत कम आवृत हुआ था तथा जो शुभ एवं उपदेश-ग्रहण में समर्थ थे। कुछ लोग पाप व वासना के दुष्परिणामों के प्रति सजग थे। अत: तथागत ने उन लोगों को उपदेश देकर अमरत्व के द्वार को खोल देने का निश्चय किया।

अपना प्रथम धर्मोपदेश देने के लिये भगवान बुद्ध वाराणसी के सारनाथ में आये। उनके पाँच तपस्वी मित्र वहीं रहा करते थे। उन पाँच भिक्खुओं ने बुद्ध को अपनी ओर आते देख निश्चय किया कि वे उनकी उपेक्षा करेंगे, क्योंकि बुद्ध तपस्या के मार्ग से च्युत हो गये हैं। लेकिन वे शिष्य बन गये। बुद्ध ने उन्हें शारीरिक कष्ट कर तपस्या की अति तथा अत्यधिक इन्द्रिय भोग की दूसरी अति को त्याग कर मध्यम मार्ग का उपदेश दिया। जिस धर्मचक्र का उन्होंने प्रवर्तन किया उसके आरे शुद्धाचरण के नियम हैं। न्याय उनकी समान लम्बाई है। ज्ञान उस चक्र पर चढ़ा लौहवलय या हाल है। विनय और विचारशीलता उस चक्र की नाभि है, जिसमें सत्य की दृढ़ धुरी लगी हुई है।

इसके बाद बुद्ध ने दुख, दुख का कारण, दुख निवृत्ति तथा दुख निवृत्ति का उपाय, इन चार आर्य सत्यों का उपदेश दिया। अष्टांग सम्यक् मार्ग ही दुख निवृत्ति का उपाय है।

इन पाँच भिक्षुओं से ही बुद्ध के धर्म-संघ की स्थापना हुई। बुद्ध ने उन्हें एक साथ संघबद्ध रूप से रहने का परामर्श देते हुए कहा कि अकेला रहनेवाला साधु पथभ्रष्ट हो सकता है, अत: साथ रहो तथा एक-दूसरे की सहायता करो। भाई की तरह एक उद्देश्य, सत्य के लिये समान उत्साह और समान प्रेम व पवित्रता से युक्त रहो। सत्य की सभी दिशाओं में सभी के कल्याण के लिये प्रचार करो। इस संघ के माध्यम से बुद्ध की शरण में आये सबके बीच में सम्बन्ध स्थापित होगा।

इसके बाद इन भिक्षुओं ने 'बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि', मंत्रों का उच्चारण बुद्ध के सामने कर संघ में विधिवत् प्रवेश किया।

इसी समय संसार की ज्वाला से संतप्त यश नामक युवक भगवान बुद्ध के धर्म को स्वीकार कर संघ में सम्मिलित हुआ। उसके पिता गृहस्थ शिष्य बने तथा उसकी माता तथा पत्नी भगवान बुद्ध की प्रथम महिला गृहस्थ शिष्या बनीं। यश के चार घनिष्ठ मित्र भी संघ में प्रविष्ट हो गये। इस तरह भिक्षु संघ तेजी से वर्धित होने लगा। सर्वप्रथम तो भगवान बुद्ध स्वयं धर्मोपदेश देते थे, तथा संघ-दीक्षा प्रदान करते थे। लेकिन जैसे-जैसे संघ के सदस्यों की संख्या में वृद्धि होने लगी, यह कार्य उन्होंने दूसरे भिक्षुओं को भी करने का आदेश व अधिकार प्रदान किया। उन्होंने भिक्षुओं को 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' देश-देशान्तर में गमन करते हुए धर्म और विनय का प्रचार करने का आदेश दिया। तब से भिक्षुगण वर्षा के चार माह को छोड़ अन्य समय भ्रमण करते तथा धर्म का प्रचार करते। चातुर्मास के समय वे भगवान बुद्ध के निकट सम्मिलित होकर उनसे उपदेश सुनते।

संघ का विकास

विनय पिटक के अध्ययन से स्पष्ट संकेत प्राप्त होते हैं कि भगवान बुद्ध के मन में संघ के स्वरूप, विस्तार आदि के विषय में प्रारम्भ से ही कोई निश्चित धारणा नहीं थी। जैसे-जैसे समस्याएँ पैदा होती गयीं, वैसे-वैसे वे निर्देश देते गये तथा भिक्षुओं के आचार-व्यवहार के नियम बनाते गये। संघ के विस्तार एवं स्वरूप को जिन दो बातों ने सबसे अधिक प्रभावित किया, वे थीं – (१) भगवान बुद्ध के गृहस्थ अनुयायियों का भिक्षुसंघ के प्रति योगदान, (२) भिक्षुओं के सामूहिक जीवन से उत्पन्न दैनन्दिन समस्याएँ एवं बुद्ध द्वारा सुझाये गये उनके समाधान।

गृहस्थ अनुयायियों का योगदान – भगवान बुद्ध के स्तर के लोकोत्तर महापुरुष केवल सर्वत्यागी संन्यासियों के कल्याण के लिये ही इस धराधाम में अवतरित नहीं होते। वे समग्र जन-साधारण के उद्धार के लिये आते हैं। इस बात को ध्यान में रखकर बुद्ध ने अपने गृहस्थ भक्तों के लिए भी कुछ निर्देश दिये थे, जिनमें भिक्षुओं तथा भिक्षु-संघ की सेवा एक महत्त्वपूर्ण उपदेश था। सत्पात्र को दिया गया दान गृहस्थों के लिये अत्यन्त शुभ एवं कल्याणकारी होता है। यह जानकर उन्होंने एक ओर तो अपने सद्गृहस्थ शिष्यों को दान के लिए प्रोत्साहित किया और दूसरी ओर भिक्षुओं को इस प्रकार के दान से प्राप्त वस्तुओं को स्वीकार कर गृहस्थों की भावनाओं का आदर करने की अनुमति प्रदान की।

बुद्ध के गृहस्थ अनुयायियों में मगध के सम्राट बिम्बिसार अन्यतम थे। बौद्ध धर्म को स्वीकार करने के बाद उन्होंने एक बार बुद्ध तथा उनके शिष्य भिक्षुओं को भिक्षा के लिए आमंत्रित किया। भिक्षुओं के भोजन के बाद उन्होंने वेणुवन नामक अपने एक आमोद-वन को बुद्ध संघ को समर्पित किया, जिससे भिक्षु बिना किसी अड़चन के एकान्त में जन-समाज से न तो बहुत दूर और न ही बहुत निकट, शान्ति से रह सकें। भिक्षुओं को भिक्षा-प्राप्ति के लिए अधिक दूर नहीं जाना पड़ेगा और जन-साधारण भी भिक्षुओं के सत्संग का लाभ उठा सकेगा। सम्राट बिम्बिसार की आन्तरिक शुभ भावना तथा वेणुवन को संघ का निवास बनाने में निहित व्यावहारिक उपयोगिता को देखते हुए भगवान बुद्ध ने उसे संघ के लिये स्वीकार कर लिया।

इसी तरह अनाथ पिण्डक नामक एक उदार प्रकृति धनाढ्य व्यक्ति ने भी भिक्षु संघ को एक विहार अथवा

निवास स्थान की भेंट प्रदान की। वह अनाथों एवं गरीबों के मित्र के रूप में जाना जाता था। भगवान बुद्ध की ख्याति सुनकर वह उनके दर्शनों के लिए आया तथा बुद्ध से उसने अपने कल्याण का मार्ग पूछा। पात्र के अनुरूप उपदेश देते हुए बुद्ध ने उसे दान की महिमा बतायी तथा कहा कि दया एवं करुणा से प्रेरित दान द्वारा अमरत्व प्राप्त किया जा सकता है।

तदनन्तर अनाथ पिण्डक ने भिक्षुओं के विहार के लिये घने वृक्षों से पूर्ण एक उपवन देखा, जो किसी युवराज की सम्पत्ति था। अनाथ पिण्डक ने उसे क्रय करके बुद्ध के शिष्य सारिपुत्त को दान किया। उस पर बुद्ध के निर्देशानुसार एक सुन्दर भवन का निर्माण किया गया। यह स्थान जेतवन विहार के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जीवक एक राज वैद्य थे, तथा एक बार उन्होंने भगवान बुद्ध की चिकित्सा की थी, उसके बाद उज्जयिनी के राजा प्रद्योत की चिकित्सा करते समय उन्हें राजा की ओर से एक अत्यन्त मूल्यवान वस्त्र भेंट स्वरूप प्राप्त हुआ। जीवक ने विचार किया कि भगवान बुद्ध ही इस अति उत्तम वस्त्र को धारण करने योग्य हैं। यह सोचकर अत्यन्त विनम्रता के साथ बुद्ध से एक वरदान की याचना की। बुद्ध के पूछने पर उन्होंने वह वस्त्र देते हुए उनसे उसे स्वीकार करने का निवेदन किया तथा भिक्षुओं को भी गृहस्थों द्वारा दिए गये वस्त्र पहनने की अनुमति प्रदान करने का अनुरोध किया। बुद्ध ने जीवक की भावना का आदर करते हुए वस्त्र स्वयं स्वीकार किया तथा भिक्षुओं को भी इसकी अनुमति प्रदान की। इसके पहले तक भिक्षु केवल कन्था अर्थात् कूड़े-कचरे में पड़े वस्त्रों के टुकड़ों को सीकर बनाये गये कपड़े ही पहनते थे। बुद्ध ने दोनों प्रकार के वस्त्रों की अनुमति दी, जो भिक्षु जैसा चाहे वस्त्र पहने। जब लोगों ने सुना कि भगवान ने भिक्षुओं को प्रदत्त वस्त्र पहनने की अनुमति प्रदान कर दी है, तो बहुत-से लोग वस्त्र ले-लेकर आने लगे तथा एक ही दिन में कई हजार वस्त्र राजगृह में भिक्षुओं को भेंट स्वरूप प्राप्त हुए।

भगवान बुद्ध की गृहस्थ महिला-भक्तों की अग्रणी थी विशाखा। उसने पूर्वाराम नामक एक स्थान बुद्ध संघ को भेंट किया था।

एक दिन उसने भगवान बुद्ध को भोजन के लिये निमंत्रित किया। भोजन कर चुकने के बाद उसने भगवान बुद्ध से आठ वरदान माँगे। व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण उत्पन्न समस्याओं को ध्यान में रखते हुए विशाखा ने ये वरदान माँगे थे, जिनके औचित्य को देखते हुए भगवान बुद्ध ने उनको स्वीकार कर लिया। विशाखा ने भिक्षुओं की निम्न आठ आवश्यकताओं की पूर्ति जीवनपर्यन्त स्वयं करने का वरदान माँगा था :

१. वर्षाकाल में भिक्षुओं को विशेष वस्त्र प्रदान करने की अनुमति, क्योंकि एकमात्र वस्त्र के गीला हो जाने से भिक्षुओं को उसके सूखने तक विवस्त्र रहना पड़ता था।

२. नवागत भिक्षुओं को भोजन प्रदान करने की अनुमति, क्योंकि नवागत भिक्षु मार्गादि से अनभिज्ञ रहने के कारण नहीं जानता कि वह कहाँ भिक्षा प्राप्त कर सकेगा तथा वह मार्ग-श्रम से क्लान्त भी रहता है।

३. बहिर्गमनकारी भिक्षु के लिये भोजन की अनुमति, क्योंकि उसे निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने में देर हो सकती है।

४. रुग्ण भिक्षु को पथ्य प्रदान करने की अनुमति, क्योंकि पथ्य के अभाव में उसका रोग बढ़ सकता है।

५. रुग्ण भिक्षु की परिचर्या में नियुक्त भिक्षु को भोजन देने की अनुमति, क्योंकि वह अपने कार्य में रत रहने से भिक्षाटन के लिये सम्भवत: न जा सके।

६. रुग्ण भिक्षु के लिये औषधि की व्यवस्था करने की अनुमति।

७. भिक्षु संघ को पायस (खीर) प्रदान करने की अनुमति, क्योंकि भगवान बुद्ध ने खीर को शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त उपयोगी बताया था।

८. भिक्षुणियों को स्नान के समय पहनने के वस्त्र प्रदान करने की अनुमति, जिससे उन्हें निर्वस्त्र होकर स्नान न करना पड़े।

विशाखा की उदारता, दूरदर्शिता एवं बुद्धिमत्ता से अत्यन्त प्रभावित हो भगवान बुद्ध ने उनकी ये सारी बातें स्वीकार कर लीं तथा विशाखा की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

भिक्षु संघ की दैनन्दिन समस्याएँ और समाधान

भगवान बुद्ध के द्वारा बौद्ध धर्म के प्रवर्तन से पूर्व कठोर तपस्या को मुख्य साधना माना जाता था। अत: साधक सभी प्रकार की शारीरिक सुविधाओं का त्याग कर शरीर को कष्ट देनेवाली कृच्छ्र साधनाएँ किया करते थे। लेकिन बुद्ध ने उस काल के दिगम्बर कृच्छ्र साधकों को अस्वीकार कर दिया था। उन्होंने अपने शिष्यों को 'कन्था' धारण करने का

आदेश दिया था, जिसकी चर्चा की जा चुकी है। भिक्षुओं के लिये भिक्षान्न से उदर-पूरण, कन्था से देह को ढकना, वृक्षों के नीचे निवास तथा राख अथवा गोमूत्र से स्वयं की चिकित्सा, ये चार विधान थे। वे जूते-चप्पल नहीं पहनते थे तथा भवनों में निवास नहीं करते थे। एक बार एक भिक्षु के पैरों में नंगे पाँव चलने से घाव हो गया। यह देखकर बुद्ध ने पदत्राण का उपयोग करने की अनुमति प्रदान की। अब पदत्राण भी कई प्रकार के हो सकते हैं – जूते, चप्पल, कपड़े के, चमड़े के अथवा लकड़ी के बने हुए। भिन्न साधु भिन्न-भिन्न प्रकार के जूते-चप्पलों का व्यवहार करने लगे, जिससे नयी-नयी समस्याएँ उठने लगीं। बुद्ध को एक-के-बाद एक नये-नये नियम बनाने पड़े।

भिक्षुओं को रोग भी होते थे। बुद्ध ने उनके निवारणार्थ औषधियों का सेवन, मरहम आदि के लगाने की अनुमति प्रदान की। कई भिक्षु जब एक साथ रहते थे, तो उनके लघुशंका, शौचादि से दुर्गन्ध फैलती थी। अत: कहाँ शौचादि किया जाय, इत्यादि के भी नियम बने। जब भिक्षुगण भवनों और विहारों में रहने लगे, तो आगन्तुक भक्त के आने का समय उनसे मिलने आदि के नियम आदि भी बनाने पड़े। इस तरह से प्रतिदिन की छोटी-छोटी समस्याओं के कारण असंख्य नियमों एवं उपनियमों का निर्माण स्वयं बुद्ध के समय, उन्हीं की अनुमति से हुआ।

जैसाकि पहले कहा जा चुका है भिक्षु सारे वर्ष पर्यटन करते रहते थे और वर्षा के चार महीनों में वे विहारों में निवास करते थे। कभी-कभी गृहस्थ भक्तों के आग्रह पर तथा बुद्ध की अनुमति से वे चातुर्मास के अतिरिक्त भी विहारों में रह जाते थे। सम्राट बिम्बिसार के अनुरोध पर बुद्ध ने गृहस्थों के कल्याण के लिये यह नियम बनाया कि प्रत्येक पक्ष की अष्टमी और चतुर्दशी अथवा पूर्णिमा व अमावस्या के दिन चाहे वे विहार में हों या बाहर, निकटवर्ती विहार में सम्मिलित होवें। इस रस्म को उपवसथा कहा जाता था। इस दिन गृहस्थ भक्त भी उपदेश सुनने की आशा से विहार में एकत्र होते थे। इस दिन पातिमोक्ख या प्रतिमोक्ष नामक एक रस्म होती थी। पातिमोक्ख का अर्थ है, अपने अनुचित कर्मों की स्वीकरोक्ति तथा उनके प्रायश्चित्त द्वारा उनसे मुक्ति। क्योंकि कोई भी गलती, छोटी या बड़ी, यदि स्वीकार कर ली जाय, तो उससे उसका बोझ हल्का हो जाता है। बुद्ध ने प्रतिमोक्ष की पद्धति का भी निर्देश कर दिया। एक आदरणीय वरिष्ठ भिक्षु सर्वप्रथम समस्त सम्मिलित भिक्षुओं को सम्बोधित करके उन्हें सुनने के लिए सावधान करे। उसके बाद वह विभिन्न श्रेणियों के दोषों एवं अनुचित कार्य, जो भिक्षु द्वारा सम्भव है, एक-के-बाद एक बोलता जाए, प्रत्येक श्रेणी की घोषणा के बाद वह तीन बार पूछे कि किसी से दोष हुआ है कि नहीं? जिससे यह दोष हुआ है, वह उठकर सबके सामने उसे स्वीकार करे। यदि न हुआ हो, तो शान्त रहे।

भिक्षुओं द्वारा कृत पापों अथवा अनुचित कार्यों को उनकी गुरुता के अनुसार श्रेणियों में विभक्त किया गया था। गुरुतम पापों के दण्ड स्वरूप भिक्षु को संघ से निष्कासित किया जाता था। अन्य दण्डों में वरिष्ठता में कमी आदि करके, कुछ छोटे-मोटे दोषों का प्रक्षालन तो केवल उनके स्वीकार करने से ही हो जाता था।

संघ में मतभेद व विभाजन

धर्मसंघों में विभाजन की घटनाएँ प्राय: देखी जाती हैं। भगवान बुद्ध की जीवद्दशा में ही इस प्रकार की एक घटना हुई थी। जिसका वृत्तान्त अत्यन्त शिक्षाप्रद है। बुद्ध की अनुपस्थिति में एक भिक्षु पर किसी अनुचित कार्य का आरोप लगाया गया। किन्तु उस भिक्षु द्वारा उसे अस्वीकार करने के कारण अन्य भिक्षुओं ने उसको संघ से निष्कासित करने का दण्ड दिया।

लेकिन जिसे दण्ड दिया गया था, वह भिक्षु बुद्धिमान, अनुशासित, विनम्र, धैर्यनिष्ठ एवं शास्त्रवेत्ता था। उसने अपने मित्रों से कहा कि मैंने जो कुछ किया है, वह अधर्म या अनुचित व्यवहार के अन्तर्गत नहीं आता। अत: मैं दोषी नहीं हूँ। अत: मैं निष्कासित नहीं किया जा सकता। इस तरह उस भिक्षु का पक्ष लेनेवाला एक वर्ग हो गया और संघ के दो भाग हो गये। अब यह बात भगवान बुद्ध को ज्ञात हुई, तो वे उन भिक्षुओं के पास गये, जिन्होंने अभियोग लगाया था और कहा, ''भिक्षुओं किसी बुद्धिमान, शास्त्रविद् और विनयी भिक्षु के विरुद्ध तुम मनमाना अभियोग केवल यह कहकर नहीं लगा सकते कि हम ऐसा समझते हैं। वह अपना दोष समझने तथा स्वीकार करने में असमर्थ है, केवल इसीलिए उसे संघ से निष्कासित करने से संघ के विभाजन का भय है।'' उसके बाद बुद्ध निष्कासित भिक्षु का पक्ष लेनेवाले भिक्षुओं के पास जाकर बोले, ''भिक्षुओं, अगर किसी ने अपराध किया है, तो उसे यह कहकर नकारा

नहीं जा सकता कि यह अपराध नहीं है। उस भिक्षु को यह सोचना चाहिए कि जिन्होंने दोषारोपण किया है, वे बुद्धिमान हैं, शास्त्रवेत्ता हैं, निष्पक्ष हैं, वे मेरे विषय में इस प्रकार द्वेषपूर्ण व्यवहार नहीं करेंगे। उस भिक्षु को संघ के विभाजन के भय से अपने अन्य भिक्षु बन्धुओं के आदेश को स्वीकार कर अपना दोष स्वीकार करना चाहिए।''

दोनों पक्षों को इस प्रकार समझाने के बाद भी जब दोनों पक्ष अपनी-अपनी उपवसथा तथा पातिमोक्ख की रस्में अलग-अलग करते रहे, तो बुद्ध ने दोनों को स्वीकार किया। उन्होंने कहा कि दोनों वर्गों में समझदार-वयस्क एवं आदरणीय भिक्षु हैं। यही नहीं, उन्होंने अपने गृहस्थ-भक्तों को भी यह निर्देश दिया कि वे दोनों समुदाय के भिक्षुओं को अन्न-वस्त्र की भिक्षा प्रदान करते रहें। बुद्ध स्वयं इस मतभेद से दुखी हुए तथा बार-बार विन्रमतापूर्वक एक साथ रहने को समझाते रहे। अन्त में वे वहाँ से चले गये। उनके जाने के बाद दोनों वर्गों में झगड़े और बढ़ गये, जिसके कारण गृहस्थ समुदाय की आस्था एवं विश्वास भी उनके प्रति नहीं रही। वे कहने लगे कि इन भिक्षुओं का आचरण भिक्षुओं जैसा नहीं है, इन्हें तो अपना काषाय वस्त्र त्याग कर गृहस्थ बन जाना चाहिए। अन्त में दोनों वर्ग के भिक्षु बाध्य होकर बुद्ध की शरण में आये। भगवान बुद्ध ने सभी भिक्षुओं को सम्मिलित कर एक प्रवचन दिया। जिसमें उन्होंने दो शत्रुओं को एक कथा सुनायी। उन्होंने यह बताया कि दोनों की शत्रुता का अन्त वैर व द्वेष-त्याग द्वारा हुआ था। हिंसा से हिंसा पर, वैर से वैर पर कभी विजय नहीं पायी जा सकती। प्रेम और वैर-त्याग से ही वैर का नाश किया जा सकता है। भगवान बुद्ध के सामयिक उपदेश से संघ में पुन: एकता स्थापित हुई।

संघ रूपी सागर के आठ लक्षण :

बुद्ध के अनुसार एक संन्यासी संघ एक विशाल सागर के सदृश है। समुद्र के आठ लक्षण हैं, जो एक संन्यासी संघ में भी पाये जाते हैं।

सागर की निम्न आठ विशेषताएँ हैं :

१. सागर क्रमश: गहरा होता जाता है।

२. वह अपनी सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करता।

३. अगर किसी प्राणी की मृत देह समुद्र में डाली जाय, तो समुद्र उसे किनारे पर फेंक देता है।

४. समुद्ध में मिलने के बाद सभी नदियाँ अपने नाम-रूप को भूलाकर समुद्र के नाम से ही जानी जाती हैं।

५. नदियों से निरन्तर जल प्राप्त करने अथवा सूर्य के तेज से जल के वाष्प बनकर निकल जाने पर भी समुद्र न तो खाली होता है और न बढ़ता है।

६. समुद्र के जल का सर्वत्र एक ही, खारा स्वाद होता है।

७. समुद्र रत्नों, मणियों, मोतियों का भंडार है।

८. समुद्र में तिमिंगल, मगरमच्छ आदि बड़े-बड़े जन्तु निवास करते हैं।

इसी तरह संन्यासी संघ की भी आठ विशेषताएँ हैं :

१. संघ में प्रवेश करने वाले संन्यासियों का भी क्रमिक विकास होता है, धीरे-धीरे उनके जीवन में गहराई आती है।

२. संघ के सदस्य अपनी नैतिक मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते। वे अपने नियमों की सीमा में बँधे रहते हैं।

३. नैतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से व्यर्थ एवं मृतप्राय सदस्य को संघ का त्याग कर देना पड़ता है।

४. संघ में सम्मिलित होने के बाद सभी सदस्य अपने गोत्र, कुल आदि का नाम त्यागकर केवल संघ के सदस्य के रूप में पहचाने जाने लगते हैं।

५. संघ में चाहे कितने ही सदस्य सम्मिलित होवें अथवा कितने ही त्यागें या सदस्यों की मृत्यु हो जाए, तो भी संघ न तो खाली होता है और न बढ़ता है।

६. संघ के सभी सदस्यों के आचरण, चरित्र, व्यवहार एवं विचारधारा में समानता होती है।

७. संघ में अनेक विभिन्न प्रकार के मूल्यवान भावों की सम्पदा रहती है।

८. संघ में ज्ञानी, भक्त, जीवन्मुक्त, सिद्ध और इसी तरह अनेक महापुरुषों का वास रहता है। ○○○

'दूसरे मुझसे घृणा करते हैं, मुझे अविश्वसनीय समझते हैं, मेरे बारे में भ्रांति होती है तथा मुझे धोखा दिया जाता है', जो इस प्रकार के विचारों का पोषण अपने मन में करता है, वह उन कारणों से मुक्त नहीं हो सकता, जो उस पर अपना विध्वंसात्मक प्रभाव डालते हैं। — ***भगवान बुद्ध***

विनम्रता की मूर्ति : भगवती श्रीमाँ सारदा

स्वामी चेतनानन्द

अनुवाद - लक्ष्मीनारायण इन्दुरिया, भोपाल

संशय रूपी राक्षस का जन्म अज्ञान और भ्रम से होता है, जो मन के सुख और शान्ति को नष्ट कर देता है। जिस घर में पति-पत्नी एक-दूसरे पर अविश्वास करते हों, क्या वहाँ शान्ति हो सकती है? अविश्वास भयानक है, लेकिन उसे सच्चे ज्ञान और ईश्वर की कृपा से नष्ट किया जा सकता है।

कई व्यक्ति न्यूटेस्टामेंट में उल्लिखित शंकालु थामस के समान हैं, जिसने अन्य शिष्यों से सुनने के बाद भी, कि उन्होंने ईशा को देखा है, ईशा के पुनरुत्थान पर अविश्वास किया। एक बार कलमा (अब बांग्लादेश) के एक भक्त ने श्रीरामकृष्ण की आध्यात्मिक सहगामिनी श्रीमाँ सारदा देवी की दिव्यता पर संदेह किया। यह अविश्वास उसके मन को मथ रहा था और उसके आध्यात्मिक जीवन को नष्ट कर रहा था। समाधान की खोज में, वे श्रीमाँ सारदा के एक सेवक स्वामी सारदानन्द से मिलने कलकत्ता के उद्बोधन भवन गए।

कलमा के भक्त ने कहा, ''स्वामीजी, मैं विश्वास करता हूँ कि रामकृष्ण एक अवतार थे, लेकिन मैं माँ सारदा को भगवती स्वीकार नहीं करता।''

स्वामी सारदानन्द ने उत्तर दिया, ''अच्छा, यदि तुम विश्वास करते हो कि ठाकुर ईश्वर थे, तब तुम्हें माँ सारदा देवी को भगवती स्वीकार करने में क्या बाधा है?''

भक्त ने कहा कि ठाकुर को बारम्बार समाधि होती थी, लेकिन श्रीमाँ के साथ हम यह नहीं देखते। इसके अतिरिक्त उन्होंने ठाकुर के समान कठोर साधना भी नहीं की।

सारदानन्दजी ने कहा, ''क्या तुम्हें पक्का विश्वास नहीं है कि ठाकुर ईश्वर थे? भक्त ने विनम्रतापूर्वक उत्तर दिया, ''नहीं स्वामीजी, मुझे पूर्ण विश्वास है कि ठाकुर ईश्वर थे।

सारदानन्दजी ने कहा, ''तब क्या तुम विश्वास करते हो कि ईश्वर ने एक गरीब स्त्री जिसने गाय के गोबर का कंडा इकट्ठा किया और उसे बेचकर अपना जीवन निर्वाह किया, उसकी पुत्री से विवाह किया।''

आगे बिना कुछ कहे भक्त ने सारदानन्दजी के समक्ष नतमस्तक हो आनन्दपूर्वक कहा, स्वामीजी ''मेरी शंका समाप्त हो गई है।''

उन्नीसवीं शताब्दी के देवपुरुष श्रीरामकृष्ण देव पूरे संसार में सभी धार्मिक परम्पराओं के प्रति सम्मान और स्वीकृति का प्रदर्शन करने के लिए सुविख्यात हैं। सचमुच वे एक आध्यात्मिक विभूति थे। उनके महाप्रयाण के पश्चात् पश्चिम में योग और वेदान्त के उदात्त विचारों को प्रचारित करने वालों में उनके प्रथम शिष्य स्वामी विवेकानन्द थे। नोबल पुरस्कार प्राप्त फ्रांसीसी साहित्यकार रोमा रोलॉ लिखते हैं, ''यह व्यक्ति (रामकृष्ण) तीस करोड़ लोगों के दो हजार वर्षों के आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता थे।''

भारतीय धार्मिक परम्परा के अनुसार अवतार अकेले नहीं आते। वे अपनी शक्ति के साथ आते हैं, उनकी स्त्री प्रतिमूर्ति, साथ-ही-साथ महापुरुषों का एक समूह जो उनके उपदेशों का प्रचार करते हैं। श्रीरामचन्द्र सीताजी के साथ आए, श्रीकृष्ण राधा के साथ, बुद्ध यशोधरा के साथ, चैतन्य विष्णुप्रिया के साथ, और श्रीरामकृष्ण सारदा के साथ। स्वामी निखिलानन्द जी लिखते हैं : पत्नी को सहधर्मिणी कहते हैं, वह आध्यात्मिक लक्ष्य में पति की सहभागी होती है। विवाह का अर्थ पति की श्रेष्ठता और पत्नी की लघुता नहीं होता। एक के बिना दूसरा अधूरा है। इस धारणा को हिन्दू देवता अर्धनारीश्वर के द्वारा प्रतीक के रूप में समझाया गया है, जिसका आधा भाग स्त्री और आधा पुरुष है। जब व्यक्ति अपनी पत्नी को मात्र भौतिक कामना पूर्ति की वस्तु मानता है, तो परिवार आपदाग्रस्त हो जाता है। एक हिन्दू धर्मग्रन्थ

कहता है, ''वह सदाचारी के लिये भाग्य की देवी है और दुष्ट के लिए अनिष्टकारी शक्ति है।''

यह ग्रन्थ वर्णन करता है कि श्रीरामकृष्ण देव की सहधर्मिणी ने अपने पति के आध्यात्मिक सेवा-कार्य को उनकी महासमाधि के पश्चात् ३४ वर्षों तक किस प्रकार सम्पन्न किया और श्रीरामकृष्ण संघ के साधुओं और भक्तों को प्रेरणा प्रदान किया। उनका जीवन वेदान्त को व्यवहार में उतारने का ज्वलन्त उदाहरण है। उन्होंने प्रदर्शित किया – संसार में रहते हुए ईश्वर के सान्निध्य में कैसे रहना चाहिए, किस प्रकार सक्रिय और ध्याननिष्ठ जीवन जीना चाहिए, किस प्रकार सहनशीलता और क्षमा के द्वारा व्यक्ति के कर्मों में सामंजस्य बैठाएँ, व्यक्ति के दैनिक जीवन में प्रेम, करुणा, विनम्रता, नि:स्वार्थ सेवा, त्याग और भक्ति के द्वारा कैसे शान्ति और आनन्द की उपलब्धि करें। उनका अन्तिम संदेश था – ''यदि शान्ति चाहो, बेटी, तो किसी का दोष मत देखना। अपना दोष देखना। संसार को अपना बना लेना सीखो। कोई पराया नहीं है, बेटी, यह सारा संसार तुम्हार अपन है।''

लोग प्राय: मार्गदर्शन और जीवन गठन के लिये एक प्रेरणा स्रोत ढूँढते हैं। हमें यह देखकर प्रसन्नता होती है कि व्यक्ति जैसा उपदेश देता है, वैसा ही जीवन है। हम पूर्ण नहीं हैं, पर हम दूसरे में पूर्णता देखना चाहते हैं। श्रीमाँ सारदा देवी अपने विभिन्न सम्बन्धों जैसे पुत्री, बहन, पत्नी और माँ, साथ-ही-साथ गृहिणी और साध्वी के रूप में आदर्शस्वरूपा थीं। हिन्दूमत के अनुसार नारीत्व की पराकाष्ठा माता के रूप में हैं। परिवार में स्त्री माता के नि:स्वार्थ प्रेम और त्यागमय सेवा के कारण सर्वाधिक सम्मान प्राप्त करती है। इसके अतिरिक्त उन्हें साक्षात् देवी माना जाता है। वह ईश्वर के मातृत्व का मूर्तरूप है। बच्चे सामान्यत: पिता की अपेक्षा माता से अधिक उन्मुक्त रहते हैं, वे माता से कुछ माँगने में हिचकते नहीं। बंगाली कहावत के अनुसार बच्चा बुरा हो सकता है, पर माता कुमाता नहीं हो सकती।

केवल एक जौहरी रत्न का मूल्य जानता है। हम माँ सारदा के वास्तविक स्वरूप को यथार्थ में नहीं जानते, किन्तु हम, श्रीरामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द से और ठाकुर-श्रीमाँ के कुछ अन्य निकटस्थ शिष्यों के श्रीमुख से उनकी महानता के सम्बन्ध में सुनते हैं। श्रीरामकृष्ण ने श्रीमाँ के सम्बन्ध में कहा था, ''सारदा सरस्वती का अवतार है। उसका जन्म दूसरों को ज्ञान प्रदान करने के लिये हुआ है। उसने अपनी शारीरिक सुन्दरता को छिपा लिया है, ताकि ऐसा न हो कि लोग उसको कुदृष्टि से देखकर पाप करें।'' सन् १८९४ में अमेरिका से स्वामी विवेकानन्द ने स्वामी शिवानन्द को पत्र लिखा – ''तुमने अभी तक यह अनुभव नहीं किया है कि श्रीमाँ कितनी महान हैं। लोग अभी उन्हें नहीं समझ पाएँगें, लेकिन क्रमश: वे समझेंगे। भाई, शक्ति के बिना जगत का उद्धार नहीं हो सकता। क्या कारण है कि संसार के सब देशों में हमारा देश ही सबसे अधम है, शक्तिहीन है, पिछड़ा हुआ है? इसका कारण यही है कि शक्ति की अवमानना होती है। उस महाशक्ति को भारत में पुन: जाग्रत करने के लिये माँ का आविर्भाव हुआ है और उन्हें केन्द्र बना कर फिर से जगत में गार्गी और मैत्रेयी जैसी नारियों का जन्म होगा। शक्ति की कृपा के बिना कुछ भी नहीं होगा। मैं अमेरिका और यूरोप में क्या देख रहा हूँ? शक्ति की पूजा, यद्यपि वे उनकी उपासना अज्ञानवश इन्द्रिय भोग द्वारा करते हैं। फिर कल्पना करो कि जब पवित्रता के साथ वे उनकी मातृभाव से पूजा करेंगे, उनका कितना कल्याण होगा!''

यह स्वाभाविक है, जब ईश्वर मनुष्य का रूप धारण करते हैं, लोग उन्हें अपने समान एक व्यक्ति मानते हैं। श्रीकृष्ण ने गीता (९/११) में कहा है, ''जब मैं मनुष्य का रूप धारण करता हूँ, अज्ञानी मेरा अनादर करते हैं, क्योंकि वे समस्त प्राणियों के परम प्रभु के रूप में मेरी उच्चतर प्रकृति से अनभिज्ञ रहते हैं।'' जब दैवी अवतार का पृथ्वी पर अवतरण होता है, हम देखते हैं, यह एक महान आश्चर्य है। वे अपने आपको योगमाया के आवरण से ढँक लेते हैं, जिससे सामान्य लोग उन्हें पहचान न सकें। यदि वे स्वयं कृपा करके अपने को प्रगट न करें, तो कोई उनको जान नहीं सकता। नाजरथ के ग्रामवासी केवल यह जानते थे कि जीसस बढ़ई का पुत्र है। वे उनका दैवी स्वरूप नहीं पहचान सके। प्रत्येक युग में अवतारों को गलत समझा गया, केवल उनके निकट के शिष्य पहचान सके कि वे कौन हैं।

एक बार एक महिला-भक्त ने माँ सारदा से पूछा 'माँ हम आपको क्यों समझ नहीं सकते कि आप देवी माँ हैं?''

श्रीमाँ ने उत्तर दिया, 'मेरी बच्ची! हर व्यक्ति दिव्यता को कैसे पहचान सकता है? नहाने के घाट पर हीरे का एक बडा टुकड़ा पड़ा था। एक सामान्य पत्थर समझ कर लोग उससे अपने पैरों को रगड़ कर तलवों को साफ करते थे। एक दिन एक जौहरी वहाँ आया और उसने तत्काल उसे

एक बड़े और बहुमूल्य हीरे के रूप में पहचान लिया ... वास्तव में ठाकुर ईश्वर थे। उन्होंने मनुष्यों के दुखों को कम करने के लिये मनुष्य का रूप धारण किया था। वे गुप्त रूप से इस संसार में आए, जैसे एक राजा भेष बदल कर अपने शहर में घूमता है। मैं देवी भगवती हूँ।''

सन् १९५० के बाद मैं अत्यन्त भाग्यशाली था कि मुझे श्रीमाँ सारदा के कई शिष्यों के सान्निध्य का सुयोग मिला। मैंने श्रीमाँ के बारे में उनसे कई वृत्तान्त सुने। सन् १९६९ में स्वामी ईशानानन्द जी से मैंने पूछा ''स्वामीजी आप ११ वर्षों तक माँ सारदा के सेवक थे। क्या आप बता सकते है, आपने श्रीमाँ में कौन-सी सर्वाधिक प्रभावशाली विशेषता देखी। माँ सारदा और हमारी माताएँ, बहनें, चाची और हमारे परिवार की अन्य महिलाओं में क्या अन्तर है?''

स्वामीजी कुछ देर चुप रहे और फिर कहा, ''क्या तुमने किसी पुरुष या महिला को पूर्ण निष्काम, इच्छारहित देखा है? माँ सारदा पूर्णरूपेण कामनारहित थीं। प्रत्येक व्यक्ति में अज्ञानजनित कामना होती है। केवल ईश्वर ही कामनाशून्य है। माँ सारदा स्वयं जगदम्बा थीं।''

सन् १९७७ में माँ के शिष्य और सेवक स्वामी सारदेशानन्द जी से मैंने पूछा, स्वामीजी आपने कई वर्षों तक जयरामबाटी में माँ सारदा की सेवा की। कृपा कर मुझे बताइए कि उनके जीवन के किस गुण ने आपको सर्वाधिक प्रभावित किया है?

स्वामीजी ने उत्तर दिया, 'विनम्रता'। ''माँ पूरी तरह अहंकार रहित थीं।''

हम मित्रों या शत्रुओं के साथ संसार में पैदा नहीं हुए हैं। हम क्या कहते हैं और किस प्रकार व्यवहार करते हैं, मुख्यत: इसके द्वारा हम अपना मित्र अथवा शत्रु बनाते हैं। मर्मभेदी शब्दों से मानवीय सम्बन्ध तत्काल टूट सकते हैं। स्वामी सत्यस्वरूपानन्द जी माँ के शिष्य थे। वर्ष १९८६ में, वाराणसी में उन्होंने मुझे माँ की एक अत्यन्त अद्भुत विशेषता के बारे में बताया – ''माँ ने कभी भी कठोर शब्दों का उपयोग किसी को भी आहत करने के लिये नहीं किया। वे कोमल और शिष्ट भाषा में बात करती थीं, जिससे किसी को कोई कष्ट न हो। उदाहरण के लिये एक बार उन्होंने, अपने लिए सामान लाने के लिए किसी को कुछ पैसे दिए। उसने बचे हुए पैसे को वापस नहीं किया। तब माँ ने कहा, बेटा उन वस्तुओं को खरीदने के लिए क्या तुम्हें और पैसे चाहिए? झेंप कर उसने उत्तर दिया ''माँ मुझे खेद है, मैं बचे पैसे देना भूल गया।'' फिर उसने बचे पैसे वापस कर दिये।

स्वामी प्रभवानन्द ने एक बार मुझसे कहा कि माँ सारदा पवित्रता की प्रतिमूर्ति थीं। उनका मन विशुद्ध चक्र के नीचे कभी नहीं गया।

श्रीमाँ सारदा तथा अन्य महिलाओं में अन्तर के सम्बन्ध में उनके शिष्य स्वामी विशुद्धानन्द जी ने कहा था, ''मैंने माँ सारदा को नाम दिया – 'गंडी भांगा माँ' – सीमा तोड़नेवाली, असीमित माँ। हम अपने चारों ओर जिन माताओं को देखते हैं, उनमें अवरोध है या सीमा है। लेकिन माँ सारदा का प्रेम असीम था, उसमें कोई बाधा नहीं थी। वह साक्षात् जगदम्बा थीं।''

जब राम बीमार है, राम की माँ चिन्तित है, लेकिन श्याम की माँ नहीं। जब श्याम बीमार है, श्याम की माँ दुखी है, लेकिन राम की माँ नहीं। प्रत्येक माँ जानती है कि उसका बच्चा उसके शरीर से जन्मा है और इस कारण वह उससे जुड़ी है। इसके विपरीत माँ सारदा सभी जीवों की माँ थीं। वह जगन्माता थीं। माँ सारदा ने सभी बच्चों, सभी नर-नारियों और यहाँ तक कि पक्षियों और पशुओं को अपने विराट शरीर से प्रगट होते देखा। उनके भीतर प्रत्येक और सबके प्रति अनन्त प्रेम, स्नेह, करुणा और क्षमा थी।

माँ सारदा की रोचक कहानियाँ बताती हैं कि वे अपने भक्तों के समक्ष काली, जगद्धात्री, बगला तथा कुछ अन्य देवियों के रूप में प्रगट हुई थीं। उनके दैवी रूप को देखकर कई भक्त अचेत हो गए थे। श्रीरामकृष्ण ने सभी प्राणियों को जगदम्बा की अभिव्यक्ति के रूप में अनुभूति की थी। वे जानते थे कि माँ सारदा जगदम्बा हैं और जब वे इस संसार को छोड़कर गए, तब उन्होंने ईश्वर का मातृभाव दिखाने के लिए श्रीमाँ को संसार में छोड़ दिया।

स्वामी सारदानन्द जी ने अपनी पुस्तक ''मदर वर्शिप इन इंडिया'' माँ सारदा को इन शब्दों के साथ समर्पित किया – ''जिनकी कृपा दृष्टि से लेखक प्रत्येक नारी में दैवी मातृत्व के प्राकट्य की अनुभूति करने योग्य बना, उनके चरण कमलों में पूरी विनम्रता और भक्ति के साथ यह कार्य समर्पित है।''

शेष भाग पृष्ठ २०९ पर

निवेदिता की दृष्टि में स्वामी विवेकानन्द (४१)

संकलक : स्वामी विदेहात्मानन्द

१५ अक्तूबर, १९०४ : मिस मैक्लाउड को

ईसाई धर्म नि:सन्देह चिरन्तन सत्य है – परन्तु ऐसा केवल सम्भावना की दृष्टि से है। गतिशील रूप से वैसा होने के लिये उसे दिन-काल के अनुसार एक नवीन व्याख्या की जरूरत होगी। धर्मसंघों में विभाजन ने प्रवेश करके इतना ही किया है कि इसने कंकरीले तथा काँटों से भरे मार्ग पर चलने की तत्परता घोषित की है। इसके बाद ही आतंक की शुरुआत होती है।

स्वामीजी ने एक बार मुझसे कहा था, "मार्गट, तुम अपने शिष्यों के लिये स्वयं अपने धर्म का निर्माण करो और यदि सम्भव हो, तो उसमें कुछ सार्वभौमिक तत्त्वों को भी डाल दो। परन्तु याद रहे – पूरी दुनिया में कदाचित् तुम्हें ऐसे छह लोग भी नहीं मिलेंगे, जो उसके लिये सचमुच तैयार हों!" और मैं समझती हूँ कि यह बात प्राय: सत्य है। तथापि एक चीज के विषय में मैं निश्चिन्त हूँ। साम्प्रदायिकता (sectarianism) की गहराई में जाकर ही व्यक्ति में असाम्प्रदायिकता का पूर्ण प्रस्फुटन हो सकता है। ... इस मार्ग से यदि मैंने सचमुच ही कोई उपलब्धि की हो, तो इसका कारण यह है कि कभी मैं अत्यन्त कट्टर ईसाई हुआ करती थी। और तुम्हें स्मरण रखना होगा कि कालीपूजा भी एक सम्प्रदाय है।

जब मैं स्वामीजी से पहली बार मिली, तो उस समय मेरी एकमात्र आवश्यकता केवल यह जानने की थी कि अन्धविश्वास (superstitions) किन मायनों में सत्य हैं। अत: सम्भव है कि अन्य लोगों ने उन (स्वामीजी) से 'सार्वभौमिक सत्य' सीखा हो, परन्तु मुझे लगता है कि मेरे अध्ययन का मूल विषय था – प्रत्येक पुराणकथा और धार्मिक अनुष्ठान को किस प्रकार इस केन्द्रीय सत्यों के साथ जोड़ा जाए। देखो, उन दिनों मैं समस्त विश्वासों के मिथ्यात्व के विषय में अनम्य भाव से नि:संशय थी। तो भी मेरे भक्त-स्वभाव ने मुझसे कहा था कि यही सम्पूर्ण सत्य नहीं है और मैं चरम द्वन्द्व में पड़ी हुई थी। उसी समय मुझे 'शिक्षा' प्राप्त हुई।

क्या तुम्हें काश्मीर के जंगल की वह रात याद है, जब उन्होंने मुझसे मेरे भविष्य के विषय में पूछा था; और जब मैंने कहा कि मैं 'एक सम्प्रदाय के माध्यम से' चलना चाहूँगी, तो उन्होंने कितनी शीघ्रता से इसका समर्थन किया था!

प्रिय युम,... मेरे लिये बारम्बार प्रार्थना करो कि मैं एक ऐसी शून्य धारापथ बन सकूँ, जिससे होकर उनकी इच्छा प्रवाहित हो। मुझे महसूस होता है कि मैं तुम्हारा समस्त जीवन आत्मसात् करके, उसी के द्वारा इस प्रार्थना को सार्थक

सिस्टर निवेदिता

कर सकती हूँ। मेरा अपना जीवन तथा बल मुझे अपर्याप्त लगता है। 'देने और सेवा करने' में ही इतना समय चला जाता है कि 'ग्रहण तथा संचय करने' के लिये समय ही नहीं बचता। इसी पद्धति से तुम मुझमें ढल जाओ, ताकि मेरी गति अबाध रह सके।

८ दिसम्बर, १९०४ : मिस मैक्लाउड को

अभी-अभी एक छोकरे के साथ मेरा लम्बा तर्क चल रहा था। ओह युम, यदि तुम इतना ही समझ पाती कि कैसे सांसारिक जीवन तथा कर्म के विषय में घृणा ने इन लोगों के हृदय में गहराई तक अधिकार जमा लिया है! यदि तुम जानती कि कैसे जीवन-मार्ग के हर कदम पर उत्साहपूर्वक प्रचण्ड कर्मशीलता तथा आत्मत्याग को महत्त्व देने की जगह आध्यात्मिक अहंता इन्हें इस विचार की ओर ले जाती है कि एक बड़ी महत्त्वाकांक्षा रखना ही महानता है। कोई भी भगवाधारी अपने से महत्तर तथा अधिक साहसी व्यक्ति को भी केवल इसलिये निकृष्ट मानता है, क्योंकि वह संन्यासी नहीं है!

तो भी मैं स्वयं पर और अपनी निर्णय-शक्ति पर पूरी तौर से विश्वास करने का साहस नहीं कर पाती, क्योंकि तुम जानती हो कि स्वामीजी प्राय: ही किसी-न-किसी विषय को लेकर मेरी भर्त्सना किया करते थे; और इसके बावजूद, सम्भवत: वे मुझे इस बात के लिये विवश करना चाहते थे कि मैं अपने पूरे मन-प्राण के साथ, अपना मार्ग स्वयं बनाऊँ। वस्तुत: इसके सिवाय मेरे लिये दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

यदि मेरे लिये सम्भव होता, तो मैं हजारों शिष्य प्राप्त कर पाती – मेरा तात्पर्य है कि हजारों नि:स्वार्थ आत्माओं को पा लेती और उन्हें अपने शिष्यों के रूप में दुकानों, कर्मस्थलों, स्कूलों, प्रयोगशालाओं तथा स्टूडियों में फैला देती और यदि मैं इस देश के सेकुलर (व्यावहारिक) जीवन का गठन कर पाती, तो मैं संन्यासी की महत्ता का मूल्यांकन करने हेतु – भगवान तथा शैतान के बीच युद्ध लगा देती। इसके बावजूद मैं धार्मिक आदर्श के विषय में उदासीन कतई नहीं हूँ!

११ जनवरी, १९०५ : मिस मैक्लाउड को

अब मैं जानने के पर्व में पहुँच गयी हूँ, अब मुझे अनुमान नहीं लगाना होगा। तुम्हारे साथ भी क्या ऐसा ही है? अवश्य होगा, अवश्य होगा, अवश्य होगा! अहा, स्वामीजी ने मुझे जो दिया है, यदि परमात्मा उसे सबको प्रदान करते! अहा, यदि वे अपना सर्वोच्च दान निरन्तर देते ही जाएँ! क्योंकि अब मैं निश्चित रूप से माँगने, इच्छा करने या माँग करने में लज्जा-बोध नहीं करती। मुझे लगता है कि अपनी आकांक्षाओं के मामले में मैं किसी को भी पीछे छोड़ सकती हूँ। मैं जो कुछ भी चाहती हूँ, उसे पूरे दिल से चाहती हूँ! और मैं उसे पाऊँगी ही! मनाही मुझे कतई मंजूर नहीं है। मैंने स्वयं को उस चट्टान से जोड़ लिया है, जिसे ईश्वर कहते हैं और यह ऐसा ही रहेगा।

मेरी इस शक्ति की अनुभूति कितनी विचित्र है! क्योंकि हम लोग – दो अन्धकारों के बीच स्थित एक बिन्दु – अनन्त निशा के बीच एक परमाणु-कण असीम गह्वर में संकुचित होकर पड़ा एक पंख इसके सिवाय और क्या हैं? तथापि प्रत्येक मानव-आत्मा में सबकी शक्ति विद्यमान है। और यही ठीक है, सदा से ऐसा ही था, इससे भिन्न कुछ हो ही नहीं सकता। सर्वाधिक विचित्र बात है इसे जानना। जैसा कि किसी ने कहा है, ''पूरे ब्रह्माण्ड का भार बर्फ के एक कण को उसके स्थान पर स्थिर रखता है।'' अहा, यदि वह हिम-कण इसे जानता और इसका आनन्द ले पाता!

८ फरवरी, १९०५ : मिस मैक्लाउड को

अहा, कितनी इच्छा होती है कि 'विलुप्त हो चुके हाथ के स्पर्श के लिये और स्तब्ध हो चुकी वाणी की ध्वनि के लिये', मैं फिर झेलम नदी के तट पर बिताये हुए उन दिनों में लौट जाऊँ जब मैं रात के समय तुमसे बातें करते हुए निद्रामग्न हो जाया करती थी!

परन्तु चलो, चलो! जैसे वे दिन बीत चुके हैं, वैसे ही हम स्वयं भी चले जाएँगे; और हमारे हृदय में विराज रही होगी – पहाड़ी के किनारे, सितारों के नीचे शयन की शान्ति! **(क्रमश:)**

पृष्ठ २०७ का शेष भाग

यह सत्य है कि न तो हमारे पास श्रीरामकृष्णदेव या स्वामी सारदानन्द जैसी आँखें हैं, न ही हमारे पास उन जैसा अनुभव है, लेकिन फिर भी हमारी परमप्रिय माता श्रीसारदा देवी के बारे में जानने की प्रबल इच्छा है। हमें उनको जानने के लिये उनकी कृपा की आवश्यकता है। हमारी एकमात्र आशा उनका आश्वासन है – ''जो मेरे बच्चे हैं, वे पहले से ही मुक्त हैं, यहाँ तक कि परमात्मा भी उनका कोई अहित नहीं कर सकते।'' श्रीमाँ ईश्वर की लौकिक शक्ति, आदिशक्ति की साक्षात् मूर्ति थीं।

हेनरी थामस और डाना ली थामस ने ''ग्रेट फिलासफर्स'' में लिखा है कि जब हम संसार की जीवन्त जीवन-चरितों का अध्ययन करते हैं, तो ''आत्मानुसंधान के पथिकों और विचारकों की संगति से हमारा संसार अधिक व्यापक हो जाता है, हमारी कल्पना अधिक समृद्ध, हमारा जीवन अधिक विविधतापूर्ण और अधिक उत्साहमय हो जाता है।''

मनुष्य केवल रोटी के द्वारा जीवित नहीं रहता, वह इस जगत में विश्वास, आशा और प्रेम इन तीन गुणों का संवर्धन करके विद्यमान है। करुणामयी श्रीसारदा देवी ने अपनी दिव्य लीला के द्वारा विश्वास, आशा और प्रेमरूपी जीवनदायी गुणों से मानवता को पोषित किया है। ○○○

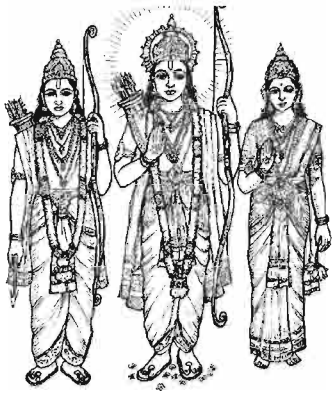

यथार्थ शरणागति का स्वरूप (८/६)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(पं रामकिंकर महाराज श्रीरामचरितमानस के अप्रतिम विलक्षण व्याख्याकार थे। रामचरितमानस में रस है, इसे सभी जानते हैं और कहते हैं, किन्तु रामचरितमानस में रहस्य है, इसके उद्घाटक 'युगतुलसी' की उपाधि से विभूषित श्रीरामकिंकर जी महाराज थे। उन्होंने यह प्रवचन रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के पावन प्रांगण में १९९२ में विवेकानन्द जयन्ती के उपलक्ष्य में दिया था। 'विवेक-ज्योति' हेतु इसका टेप से अनुलेखन स्वर्गीय श्री राजेन्द्र तिवारी जी और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है। – सं.)

बुद्धि में भ्रम उत्पन्न हो गया है। बुद्धि में श्रद्धा का उदय होना चाहिए। श्रद्धा के द्वारा बुद्धि सक्रिय होती है। बड़ा अद्भुत खेल है! बुद्धि में ही श्रद्धा का उदय होगा, ऐसा लगता है, पर बुद्धि श्रद्धा की माँ है क्या, जननी है क्या? सप्तर्षियों ने पूछा, क्यों इतना आँसू बहा रही हैं? क्यों इतना दुखी हो रही हैं? उन्होंने कहा, यह प्रश्न आप पूछ रहे हैं? क्या आपकी कोई सन्तान है? आपकी कोई संतान तो है नहीं और पूछ रहे हैं कि मैं दुखी क्यों हो रही हूँ? मैं अपनी कन्या के लिए दुखी नहीं होऊँगी? नारदजी ने कहा, ये आपकी कन्या हैं कि आप इनकी कन्या हैं? नारदजी ने सूत्र दिया –

मयना सत्य सुनहु मम बानी।
जगदंबा तव सुता भवानी।। १/९७/२

तुम इसकी माँ नहीं हो, ये तुम्हारी माँ हैं। सूत्र बड़े महत्त्व का है। बुद्धि बड़े महत्त्व की वस्तु है, पर बुद्धि को इस भ्रम में नहीं पड़ जाना चाहिए कि आदि तत्त्व जो है, वह बुद्धि है। **भवानी शंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ –** वस्तुतः, शिव और पार्वती तो श्रद्धा और विश्वास के रूप में अनादि सत्य हैं। उसमें व्यक्ति यदि यह माने कि मैंने विश्वास किया, मैंने श्रद्धा किया, तब तो यह एक बड़ी हास्यास्पद बात है। मैंने श्रद्धा और विश्वास को मिलाया, यह बड़ी भ्रान्त धारणा है और कह दिया कि तुम इस भ्रम में मत पड़ो कि तुम दोगी तब पार्वती शंकरजी को मिलेंगे।

मयना सत्य सुनहु मम बानी।
जगदंबा तव सुता भवानी।।
अजा अनादि सक्ति अबिनासिनि।
सदा संभु अरधंग निवासिनि।।
जग संभव पालन लय कारण।
निज इच्छा लीला बपु धारिनि।। १/९७/३

प्रश्न यही है कि भगवान शंकर दूल्हे के वेश में अगर जरा ठाट-बाट से आ जाते, उनके लिये समस्या तो है नहीं, चाहे जैसा वेष बना सकते हैं। विवाह अगर आनन्द से खूब बाजे-गाजे के साथ बढ़िया हो जाता, तो मैना को कोई समस्या नहीं होती और वह तो हो सकता था। एक साहित्यिक ने तो लिख ही दिया कि तुलसीदासजी ने शंकरजी की हँसी उड़ाने के लिए उनके विवाह का ऐसा वर्णन किया है। अब इन बुद्धिमानों को क्या कहें?

इसका अभिप्राय यह है कि यह आवश्यक है। क्या आवश्यक है? क्योंकि यह साधना का मूल तत्त्व है। अब स्थिति की कल्पना कीजिए। अगर शंकरजी सुन्दर बन कर आते, तो मैना को लगता कि योग्य वर को मैंने कन्या दी। कन्या मेरी है, मैं अपनी कन्या वर को दे रही हूँ और इस रूप में देती तो गर्व होता कि मैंने दिया है। मैं कन्यादान करने वाली हूँ। यह मेरी बेटी है, मैं दे रही हूँ। इसका अर्थ यह है कि समर्पण अच्छा है। जो व्यक्ति छीनते रहते हैं, उन्हें तो समर्पण करना ही चाहिए। समर्पण के सन्दर्भ में गीता का यह श्लोक दोहराया करते हैं –

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।। गीता ९/२७

भगवान कहते हैं, जितनी साधना करो, वह मुझे समर्पित करो। पर समर्पण के बाद भी तो यह बात आयेगी कि मैंने जो इतनी साधना की, इतनी तपस्या की, वह सब मैंने भगवान को अर्पण कर दिया। इसलिये साधना की सर्वोत्कृष्ट परिणति यह है दाता का देने का अहंकार मिट जाय। मानो सत्संग और भगवान शंकर ने इस रूप में जो दर्शन कराया, उसका उद्देश्य था कि यह अभिमान मिट जाय कि मैं पार्वती की माँ हूँ और मैं शिव को कुछ दे सकती हूँ। इसीलिए लिखा हुआ है कि सत्संग का जिस

समय प्रभाव हुआ, जब मैना ने नारद और सप्तर्षियों के द्वारा यह सत्संग सुना, तो पहला काम क्या किया?

तब मयना हिमवंतु अनंदे।

पुनि पुनि पारबती पद बंदे।। १/९८/१

माता-पिता दोनों ने पार्वतीजी के चरणों में साष्टांग प्रणाम किया कि माँ तुम कितनी कृपालु हो, तुम तो स्वयं उनकी शक्ति हो। हम भगवान शिव को क्या भेंट कर सकते थे! जैसे किसी के घर में भोजन करने के लिये कोई निमंत्रण तो माँगे, लेकिन यह जान ले कि इसके पास कुछ नहीं है और भोजन की सारी सामग्री भेज दे और वह बनाकर जब परोसे, तो उसे लगेगा कि यह तो इन्हीं का भेजा हुआ है। इसी तरह से साधक को जब यह लगने लगे कि यह जो कुछ है, इसमें मेरा क्या है? यह सब तो उन्हीं का है। हम भगवान को क्या समर्पित कर रहे हैं?

मैं मिट जाने के बाद जो समर्पण हुआ, वही पूर्णता जब तक बुद्धि में नहीं आती है, तब तक बुद्धि का अभिमान नष्ट नहीं हो सकता। इसलिए इस विवाह का पक्ष था कि बुद्धि किस तरह से अभिमान से शून्य होकर समर्पण करे। ठीक यहाँ पर यह विवाह भावनामूलक है। इसका अभिप्राय यह है कि जब सुनैनाजी ने श्रीसीताजी को जन्म ही नहीं दिया है, तो यह मिथ्या गर्व उनके मन में है ही नहीं कि वे यह सोचें कि मैंने इसे गर्भ में रखा, कष्ट उठाया, जन्म दिया, ऐसी तो कोई अनुभूति उन्हें नहीं हुई। उन्होंने नाता जोड़ा है, मानो वह शरीर से नहीं, वह तो शुद्ध भावना का नाता है। यह जो भाव है, वही सुनैना है। मैना बुद्धि है और सुनैना भाव है। इसलिए जो वृत्ति मैना में है, वह सुनैना में नहीं है। जब दूल्हा सामने आता है, तो ये भी थाल सजाकर, दीपक लेकर आरती उतारने आती हैं। लिखा हुआ है –

जो सुखु भा सिय मातु मन देखि राम बर बेषु।
सो न सकहिं कहि कलप सत सहस सारदा सेषु।।
१/३१८/०

करि आरती अरघु तिन्ह दीन्हा।
राम गमनु मंडप तब कीन्हा।। १/३१८/४

सुनैना आरती उतारती हैं, पर भावना वही है कि जब हम ईश्वर का स्वागत करते हैं, तो उसमें हमारी कोई वस्तु नहीं होती। जो भी वस्तु होती है, उसकी होती है। हम सूर्य को दीपक के प्रकाश में तो नहीं देखते, पर दीपक के द्वारा आरती उतार करके मानो हम अपनी असमर्थता ही प्रगट करते हैं। अगर हम समुद्र को जल का अर्घ्य दे रहे हैं, अगर हम दीपक से सूर्य की आरती कर रहे हैं, तो वही वृत्ति है कि हम उनकी ही वस्तु उन्हें दे रहे हैं, इसमें हमारा कुछ नहीं है। बाद में जब यह प्रतीत होने लगता है कि हम जितनी साधनाओं को महत्त्व देते हैं, वे साधनायें जिनसे सम्पन्न होती हैं, वह शरीर, मन भी ईश्वर का दिया हुआ है, बुद्धि भी ईश्वर की दी हुई। उन्होंने कराया तो कर लिया और वे इतने उदार हैं कि कराने के बाद वे उसको लेनेवाले भी बन जाते हैं। यह तो उनकी करुणा है कि उसने कराया और कराने के बाद धन्यवाद दिया कि आपने इतना किया। यह वृत्ति जब उदित होती है तब किसी भी व्यक्ति को न यह अभिमान हो सकता है कि उसकी साधना इतनी ऊँची है और न ही यह कहने को अधिकार हो सकता है कि मैंने यह साधना की है। इसीलिए अहल्या प्रसंग से नाम-रामायण का प्रारम्भ हुआ, विभीषण की शरणागति में सबसे पहले अहल्या का स्मरण किया गया और श्रीभरत को अन्त में। इसके सूत्र पर ध्यान दीजिए। वह सूत्र यही है कि श्रीभरतजी में तो ऐसी साधना का कोई पक्ष ही नहीं है, जो न हो। चाहे जिस दृष्टि से देखें, वे ज्ञान, भक्ति, कर्म, पवित्रता के गुणों के भंडार हैं। तो भरतजी का स्मरण पहले क्यों नहीं किया गया? उसका अभिप्राय यह है कि अगर हम भरतजी का स्मरण करते हुए यह सोचें कि हम शरणागत भरत के समान हो रहे हैं, तो यह धृष्टता की पराकाष्ठा होगी। भरत नहीं, अहल्या पहले। गोस्वामीजी के नाम-रामायण का यही सूत्र है। प्रभु, नाम भगवान, जब आप हमारे जीवन में आएँगे, तो अहल्या के उद्धार से ही रामायण प्रारम्भ हो। विभीषण भी प्रभु की शरण में जाते हुए सबसे पहले अहल्या का स्मरण करते हैं। अहल्या माने? जड़ता की पराकाष्ठा! गोस्वामीजी ने भगवान से कहा कि मैंने सुना है कि आपने अहल्या का उद्धार किया, पर मुझे विश्वास नहीं होता। प्रभु तो बड़े कौतुकी हैं। बोले, कैसे विश्वास होगा? मेरे पास भी एक अहल्या है, आप उद्धार करके दिखा दीजिए, तो मान लूँगा कौन है? बोले –

सहस सिलातें अति जड़ मति भई है।

विनय-पत्रिका १८१/२

बुद्धि अहल्या है और वह अहल्या एक बार धोखा खा गई कि उसने इन्द्र को गौतम मान लिया, कितनी बड़ी चेतावनी है? अहल्या महान तपस्विनी, महान त्यागी गौतम

की सेवा में जो निरन्तर मन, वचन, कर्म से अर्पित है। ऐसा लगा कि इसके जीवन में कहीं वासना नहीं है, पर वह बुद्धि भी तो धोखा खा जाती है। कैसे साधक यह कह सकता है कि उसने इतने दिन तक साधना की है, तपस्या की है, निष्काम रहा है! वहाँ संकेत यही आता है कि इन्द्र के मन में जब अहल्या को पाने की इच्छा होती है, तो वह गौतम का वेष बनाता है। प्रात:काल के पहले ही प्रकाश का भ्रम उत्पन्न करता है। महर्षि गौतम स्नान करने के लिये चले जाते हैं और उधर इन्द्र गौतम के वेष में आता है और अहल्या उसे गौतम के रूप में स्वीकार कर लेती है। उसने विचार नहीं किया कि क्या महर्षि गौतम इस प्रात:काल की बेला में आकर इस प्रकार का कोई अनुचित प्रस्ताव कर सकते हैं? यह अहल्या के पतन का कारण है। गोस्वामीजी ने यह कहा कि प्रभु, अहल्या ने तो एक बार धोखा खाया, पर हम लोग तो नित्य भोगों को भोगने के लिए धोखा ही खाया करते हैं। धोखा भी देते रहते हैं। 'सहस सिलातें अति जड़ मति भई है'।

हमारी बुद्धि जड़ हो गई है, पत्थर हो गई है। अहल्या में क्या साधना थी? भरतजी तो चलकर प्रभु के पास गये थे। यहाँ तो ठीक उलटी बात है। अहल्या पत्थर बनकर पड़ी हुई है। जनशून्य मनुष्य की तो बात क्या, पशु पक्षी भी वहाँ पर दिखाई नहीं देते। तब एक संत भगवान को लेकर आता है और भगवान पूछते हैं, यह क्या है? संत कहते हैं –

गौतम नारि श्राप बस उपल देह धरि धीर। १/२१०/०

बड़ी मीठी बात आई। क्या? भगवान ने यह पूछा, महाराज, इसकी कथा क्या है? संकेत बड़ा सुन्दर है। भगवान ने जो नवधा भक्ति का उपदेश दिया, उसमें बताया–

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। ३/३४/७

अब अहल्या सत्संग करने कहाँ जायेगी? क्या पत्थर सत्संग करने जा सकता है? भगवान कितने कृपालु हैं! अच्छा, तुम सत्संग के लिये नहीं जा सकती, तो मैं ही संत को लिये चले आ रहा हूँ। मैं ही तुम्हारे लिए सत्संग कर लूँगा। नवधा भक्ति प्रसंग में आगे भगवान कहते हैं –

दूसरि रति मम कथा प्रसंगा। ३/३४/८

दूसरी भक्ति मेरी कथा सुनना है। तो पत्थर क्या कथा सुनेगा? भगवान ने मानो संत से यह कहा कि ठीक है, यह मेरी कथा नहीं सुन सकती, पर मैं तो इसकी कथा सुन सकता हूँ। मानो भगवान स्वयं साधक बन गये। अहल्या नहीं कर सकती, तो उसके बदले में मैं करूँगा –

गुर पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।

उस साधन को भगवान ने अपने में ही स्वीकार कर लिया। अहल्या को चैतन्य कर दिया, उसके बाद अब चौथी भक्ति में कहते हैं –

चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान।
३/३५/०

जब वे चैतन्य हो गईं, तब क्या हुआ?

अति निर्मल बानी अस्तुति ठानी ग्यानगम्य जय रघुराई।
१/२१०/६

मानो गोस्वामीजी का तात्पर्य यह था कि प्रभु, शरणागति में, शरणागत का तो अर्थ है कि जो भगवान की शरण में जाय, पर अहल्या का अर्थ है कि शरण्य प्रभु स्वयं शरणागत को खोजते हुए आकर उसके बदले में स्वयं साधन करके उसे धन्य बनाते हैं। वही भावना गोस्वामीजी की है और विभीषण भी यही कहते हैं कि प्रभु सच बात तो यही है कि आप ही कृपा करके आए हुए हैं। आपके सत्संग के द्वारा, कथा के द्वारा मेरी जो शरणागति है, वह असमर्थ की शरणागति है, मुझमें कोई भी विशेषता नहीं है। जब आप अहल्या का उद्धार कर सकते हैं, तो मेरा भी कर दीजिए। क्योंकि जब अहल्या के रूप में तपस्विनी बुद्धि भी धोखा खा सकती है, तो मैं क्या कर सकता हूँ? बस आपकी कृपा से ही हमारी बुद्धि में चेतना आवे, अन्त:करण में भक्ति का संचार हो।

इस तरह से विभीषण के अन्त:करण में सबसे पहले अहल्या की स्मृति का तात्पर्य यह है कि आप श्रीभरत जैसे भक्तों और महानतम संतों को ही प्राप्त नहीं होते, पत्थर बन गई अहल्या को भी प्राप्त होते हैं। मैं उन्हीं में से एक हूँ।

इस तरह से चिन्तन आगे बढ़ता है, इस सम्बन्ध में जो भी चर्चा हो सकेगी, अगले दो दिनों में की जाएगी।

बोलिये सियावर रामचन्द्र की जय। **(क्रमश:)**

मन जब भोग्य वस्तुओं की आसक्ति से मुक्त हो जाता है तब वह ईश्वराभिमुख होते हुए ईश्वर में ही लीन हो जाता है। इस तरह बद्ध जीव भी मुक्त हो जाता है। जो ईश्वर से विमुख होकर दूर जाता है वही बद्धजीव है। – श्रीरामकृष्णदेव

दृग्-दृश्य-विवेकः (१२)

अनुवाद : स्वामी विदेहात्मानन्द

साक्षी जीव की व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक अभिव्यक्ति

अब यह शंका उठती है कि जाग्रत में अनुभूत होनेवाला व्यावहारिक जीव और स्वप्न में अनुभूत होनेवाला प्रातिभासिक जीव – अविद्या से उत्पन्न होने के कारण स्वभाव से जड़ हैं, तो फिर उन्हें जीव क्यों कहा जाता है? क्योंकि श्रुति के अनुसार जीव तथा जीवात्मा अभिन्न हैं – 'जीवेन-आत्मना-अनुप्रविश्य' (छा.उप., ६.३.२)। 'ब्रह्म' स्वयं ही, अग्नि तथा जल के देवता में, जीवात्मा के रूप में प्रविष्ट होकर विभिन्न नामों तथा रूपों में प्रकट हुआ है। इसका समाधान यह है –

माधुर्य-द्रव-शैत्यानि नीर-धर्मास्तरङ्गके।
अनुगम्याथ तन्निष्ठे फेनेऽप्यनुगता यथा।।४३।।
साक्षिस्थाः सच्चिदानन्दाः सम्बन्धाद्व्यावहारिके।
तद्द्वारेणानुगच्छन्ति तथैव प्रातिभासिके।।४४।।

अन्वयार्थ – **माधुर्य-द्रव-शैत्यानि** मधुरता, द्रवता तथा शीतलता – **नीर-धर्माः** जल के ये गुण, **यथा** जैसे **तरङ्गके** तरंगों में **अनुगम्य** जाने के बाद, **तन्निष्ठे फेने** उस पर आधारित फेन में **अपि** भी **अनुगता** अनुगमन करते हैं; **तथा** वैसे **एव** ही **साक्षिस्थाः** साक्षी रूपी (पारमार्थिक जीव में) स्थित **सच्चिदानन्दाः** सत् चित् तथा आनन्द **सम्बन्धात्** सम्बन्ध के कारण **व्यावहारिके** व्यावहारिक जीव में **अनुगच्छन्ति** अनुगमन करते हैं (और) **तद्द्वारेण** उसी के माध्यम से **प्रातिभासिके** प्रातिभासिक जीव में भी (**अनुगच्छन्ति** अनुगमन करते हैं)।

भावार्थ – मधुरता, द्रवता तथा शीतलता – जल के ये गुण, जैसे तरंगों में जाने के बाद, उस पर आधारित फेन में भी अनुगमन करते हैं; वैसे ही साक्षी रूपी (पारमार्थिक जीव में) स्थित 'सत् चित् तथा आनन्द' – सम्बन्ध के कारण व्यावहारिक जीव में अनुगमन करते हैं (और) उसी के माध्यम से प्रातिभासिक जीव में भी (अनुगमन करते हैं)।

अध्यारोप और अपवाद

इसी प्रकार आत्मा के लक्षणों का द्रष्टा तथा दृश्य के ऊपर अध्यारोप हो जाता है। अब इस भ्रान्तिपूर्ण अध्यारोप का अपवाद अर्थात् निराकरण किया जा रहा है –

लये फेनस्य तद्धर्मा द्रवाद्याः स्युस्तरङ्गके।
तस्यापि विलये नीरे तिष्ठन्त्येते यथा पुरा।।४५।।

अन्वयार्थ – **फेनस्य लये** फेन का लय हो जाने पर **द्रवाद्याः** द्रवता आदि **तद्धर्माः** उसके गुण **तरङ्गके** तरंग में **स्युः** रहते हैं; (फिर) **तस्य अपि** उसका भी **विलये** विलय हो जाने पर **एते** ये (गुण) **यथा पुरा** पहले के समान ही **नीरे** जल में **तिष्ठन्ति** विद्यमान रहते हैं।

भावार्थ – फेन का लय हो जाने पर, द्रवता आदि उसके गुण तरंग में रहते हैं; (फिर) उसका भी विलय हो जाने पर ये (गुण) पहले के समान ही जल में विद्यमान रहते हैं।

अब दृष्टान्त से प्राप्त तात्पर्य को मूल तत्त्व के ऊपर प्रयोग किया जा रहा है –

प्रातिभासिक-जीवस्य लये स्युर्व्यावहारिके।
तल्लये सच्चिदानन्दाः पर्यवस्यन्ति साक्षिणि।।४६।।

अन्वयार्थ – **प्रातिभासिक-जीवस्य** प्रातिभासिक जीव का **लये** लय हो जाने पर, **सच्चिदानन्दाः** सत् चित् तथा आनन्द – ये गुण **व्यावहारिके** व्यावहारिक जीव में **स्युः** विद्यमान रहते हैं; **तल्लये** उसका (भी) लय हो जाने पर (ये सत् चित् तथा आनन्द – गुण) **साक्षिणि** साक्षी अर्थात् पारमार्थिक जीव में **पर्यवस्यन्ति** निवास करते हैं।

भावार्थ – प्रातिभासिक जीव का लय हो जाने पर, सत् चित् तथा आनन्द – ये गुण, व्यावहारिक जीव में निवास करते हैं, उसका (भी) लय हो जाने पर (ये सत् चित् तथा आनन्द – गुण) साक्षी अर्थात् पारमार्थिक जीव में विद्यमान रहते हैं।

निष्कर्ष

प्रातिभासिक जीव मानो फेन है, व्यावहारिक जीव मानो तरंग है और पारमार्थिक जीव मानो जल है; इसी प्रकार स्वप्न में प्रातिभासिक जीव की अनुभूति होती है, जाग्रत अवस्था में व्यावहारिक जीव की अनुभूति होती है और साक्षी के रूप में पारमार्थिक जीव का बोध होता है। तीनों – एक और अभिन्न हैं।

वस्तुतः सच्चिदानन्द-स्वरूप 'द्रष्टा' या 'साक्षी' ही – प्रातिभासिक तथा व्यावहारिक जीव-जगत् रूपी 'दृश्य' के रूप में प्रतीत होता है, परन्तु बोध होने के बाद ये दृश्य – निर्गुण द्रष्टा रूपी ब्रह्म में ही विलीन हो जाते हैं। ○○○ **(समाप्त)**

बीरबल साहनी

ब्रह्मचारी विमोहचैतन्य, रामकृष्ण मठ, नागपुर

बीरबल साहनी का जन्म १४ नवम्बर, १८९१ को पश्चिम पंजाब के शाहपुर जिले (अब पाकिस्तान) के भेड़ा नामक एक छोटे से कस्बे में हुआ था। उनके पिता रुचिराम साहनी और माता का नाम ईश्वरदेवी था। उनके पिता लाहौर गवर्नमेंट कॉलेज में रसायनशास्त्र के प्राध्यापक थे। वे देशभक्त और समाज सुधारक थे। बीरबल अपने माता-पिता का बहुत आदर करते थे।

बीरबल साहनी भारत के एक प्रसिद्ध वनस्पत्यवशेषशास्त्री (पुरावनस्पतिशास्त्री) थे। इन्हें इंडियन पैलियोबॉटनी का जनक और प्रथम भारतीय जुरासिक वैज्ञानिक माना जाता है। बीरबल बहुत परिश्रमी थे। उनकी रुचि विज्ञान के अध्ययन में तो थी ही, साथ-साथ भाषा सीखने में भी उतनी ही रुचि थी। मैट्रिक की परीक्षा में संस्कृत विषय में उन्होंने प्रथम स्थान प्राप्त किया और बाद में संस्कृत के प्रति उनकी रुचि बढ़ती गई।। उन्होंने जर्मन, फ्रेंच इत्यादि भाषाएँ भी सीखीं ।

वे कुशल नेतृत्व एवं निष्पक्ष निर्णय लेने में प्रवीण थे। एक बार वे अपने पूरे परिवार के साथ छुट्टियाँ मनाने रावलपिण्डी (अब पाकिस्तान में) के पास मुरी नामक स्थान पर गए। एक दिन वे अपने भाई और बहन के साथ चुपचाप शहर से बाहर घाटियों और खाईयों को पार करते हुए एक नदी-तट पर पहुँचे और नदी से केकड़े पकड़ने लगे। इससे वे बहुत रोमांचित हुए। जब वे घर पहुँचे, तब काफी अन्धेरा हो गया था। उनके पिता ने उन्हें डाँटते हुए पूछा –''तुम हमको बिना बताए अपने भाई और बहन को लेकर इतनी दूर क्यों गए?'' बीरबल ने शान्तिपूर्वक उत्तर दिया – केकड़े को पकड़ने के लिए। पिता ने विस्मयपूर्वक कहा – ''केकड़े... सच!'' बीरबल के पिता ने उनके इस साहस को देखकर अपने गुस्से को शान्त किया, क्योंकि वे स्वयं भी साहसी थे और अपने साथ बच्चों को सैर-सपाटे के लिए खतरनाक पहाड़ियों में ले जाते थे।

वे विद्यार्थी अवस्था से ही विभिन्न प्रकार के पत्थरों, घोंघे-सीप, पौधों और पत्तियों के संग्रहण में बहुत रुचि रखते थे। एक बार १९११ में वे जोजिला दर्रा की यात्रा पर गए। वहाँ उन्हें बहुत वर्षों पहले बर्फ के बीच फँस जाने के कारण मरे हुए एक घोड़े की आकृति दिखाई दी। कुछ ही दूरी पर उन्हें 'रेड स्नो' नामक बर्फ की काई मिली। इस काई के नमूने को बीरबल अपने उच्च अध्ययन के लिए इंग्लैण्ड ले गए और वहाँ वनस्पतिशास्त्र के प्रोफेसर ने उनके इस नमूने की सराहना की। उनके पास हिमालय में पाए जानेवाले अनेक पौधों का बहुत बड़ा संग्रह था।

बीरबल के जीवन में हमें निष्पक्षता, साहस और निडरता का परिचय भी दृष्टिगोचर होता है। एक बार बी. एससी. की परीक्षा में वनस्पतिशास्त्र के प्रश्न-पत्र में पहले के ही सरल प्रश्नों को दोहराया गया। इस पर बीरबल ने आपत्ति व्यक्त करते हुए बिना कुछ लिखे उत्तर-पुस्तिका को वापस लौटा दिया। उनका कहना था कि इस प्रकार के प्रश्न-पत्रों से कुछ विद्यार्थी लाभान्वित होंगे और कुछ को कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है। इससे विद्यार्थियों के ज्ञान की उचित परख नहीं की जा सकती है। बीरबल के इस साहसिक कदम से उनके अध्ययन का एक वर्ष नष्ट हो सकता था। परन्तु बाद में विश्वविद्यालय के अधिकारियों के हस्तक्षेप के कारण बीरबल के लिए अलग से एक प्रश्न-पत्र तैयार किया गया।

बीरबल साहनी
१४.११.१८९१ से १०.०४.१९४९

वे वनस्पतिशास्त्र के शोध-कार्य में रुचि रखते थे। उनके

पिता ने उन्हें उच्च शिक्षा के लिए कैम्ब्रीज विश्वविद्यालय में भेजा। दूसरों को दुखी देखकर बीरबल को बहुत कष्ट होता था। वे उदार स्वभाव के थे। कैम्ब्रीज विश्वविद्यालय में उनके साथ कई भारतीय विद्यार्थी थे, जैसे सी.डी.देशमुख, जो बाद में वित्तमन्त्री बने और प्रतिभावान गणितज्ञ एस. रामानुजन। एक बार कैम्ब्रीज में एस. रामानुजन बीमार हुए, तब उन्होंने उनकी सेवा की थी। वे एक सच्चे मित्र थे।

कुशाग्र, बुद्धिमान बीरबल ने १९११ में बी.एससी. की परीक्षा पास की। १९१५ में भूगर्भशास्त्र और वनस्पतिशास्त्र (प्रकृति-विज्ञान) में उन्होंने बी.ए. की डिग्री प्राप्त की। इस विषय के श्रेष्ठ विशेषज्ञों में महान् शिक्षक प्रो.सेवार्ड के मार्गदर्शन में उन्होंने वर्तमान एवं प्राचीन वनस्पति जीवाष्मों के आकृति-विज्ञान के बारे में अनुसन्धान कार्य प्रारम्भ किया।

बीरबल ने लन्दन विश्वविद्यालय से बी.एससी. की डिग्री प्राप्त करने के बाद इसी विश्वविद्यालय से एम.एससी. की डिग्री भी अर्जित की। बीरबल को एक शोध-लेख के लिए सडबरी-हार्डिमन पुरस्कार भी मिला। उन्हें 'लोसन' की पाठ्यपुस्तक को संशोधित कर उसमें भारतीय वनस्पति ज्ञान को भी सम्मिलित करने के लिए भी कहा गया, जिससे भारतीय विद्यालयों, महाविद्यालयों के विद्यार्थी भी इस पुस्तक का उपयोग कर सकें। यह पुस्तक बाद में विद्यार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध हुई।

१९१९ में लन्दन विश्वविद्यालय ने बीरबल साहनी को प्राचीन वनस्पति-जीवाष्म पर शोध हेतु पीएच.डी. की उपाधि दी। प्रो. सेवार्ड के मार्गदर्शन में बीरबल ने भारतीय गोंडवाना वनस्पति का अध्ययन किया और भारतीय गोंडवाना वनस्पति का पुनरावलोकन सम्बन्धी 'इंडियन गोंडवाना प्लांटस : ए रिविजन' नामक पुस्तक प्रकाशित की। वनस्पत्यवशेष विज्ञान के क्षेत्र में उनके महत्त्वपूर्ण योगदान तथा उनकी स्मृति में कोलकत्ता स्थित भारतीय संग्रहालय, 'गोंडवाना गैलरी' में उनकी प्रतिमा बनाई गई है।

बीरबल साहनी अनुसन्धान प्रेमी थे। वनस्पतिशास्त्र में श्रेष्ठ अनुसन्धान को बढ़ावा देने के लिए उन्होंने अपने पिता के नाम पर 'रुचिराम साहनी अनुसन्धान-पुरस्कार' की स्थापना की। यह पुरस्कार वनस्पतिशास्त्र में श्रेष्ठ अनुसन्धान के कार्य के लिए हर वर्ष प्रदान किया जाता है। उन्होंने प्राचीन भारत में सिक्के ढालने की तकनीक पर 'दि टेक्नीक ऑफ कास्टिंग कॉइन्स इन एनसिएन्ट इंडिया' नामक पुस्तक द्वारा निष्कर्ष निकाला कि यह भारतीय तकनीक एक या दो देशों की तुलना में प्राचीन और परिष्कृत थी।

१० सितम्बर, १९४६ में लखनऊ में 'वनस्पत्यवशेष विज्ञान संस्थान' की स्थापना की गई। ३ अप्रैल, १९४९ में साठ करोड़ वर्ष पुराने पत्थरों के टुकड़ों और विभिन्न प्रकार के वनस्पति-जीवाष्मों से इस संस्थान के भवन की आधारशिला रखी गई। संस्थान की आधारशिला रखने के ठीक एक सप्ताह बाद १० अप्रैल, १९४९, को ५६ वर्ष की उम्र में हृदयाघात से लखनऊ में ही उनकी मृत्यु हो गई। १९५२ में तत्कालीन प्रधानमन्त्री पं. जवाहरलाल नेहरू ने उस संस्थान के नए भवन का शिलान्यास किया। इस संस्थान का नाम 'बीरबल साहनी पुरावनस्पतिविज्ञान संस्थान' रखा गया।

बीरबल साहनी एक कुशल वक्ता थे, जब वे बोलते थे, तब विशाल भीड़ उनके रोचक भाषण को बड़ी ही तन्मयता से सुनती थी। देश की स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ रहे नेताओं को वे पर्याप्त आर्थिक सहायता देते थे। वे एक सच्चे देशभक्त थे।

साहनी केवल अध्ययन में ही रुचि नहीं रखते थे, बल्कि संगीत, चित्रकारी, हॉकी, टेनिस, शतरंज आदि में भाग लेते थे। एक बार उन्होंने 'फैंसी ड्रेस' समारोह में साधु का वेष धारण किया था, जो उनके बाह्य और आन्तरिक जीवन में समरसता को दर्शाता है। वे कहते थे, ''कला चिरस्थाई है और समय क्षण-भंगुर है तथा परिश्रम करने से किसी की मृत्यु नहीं होती है।'' वे कठिन परिश्रम और कार्य की गुणवत्ता को अधिक महत्त्व देते थे।

बीरबल साहनी के जीवन से विद्यार्थियों को अध्ययनशील, अनुसन्धान प्रेमी और परिश्रमी विद्यार्थी जीवन का निर्वहन करने की प्रेरणा लेनी चाहिए। ○○○

दीपक का काम है प्रकाश देना, कोई तो उसकी सहायता से रसोई बनाता है; कोई जाली कार्रवाई करता है; और कोई रामायण या अन्य सद्ग्रन्थ पढ़ता है। पर ये सब क्या प्रकाश के गुणदोष कहे जा सकते हैं? कोई तो भगवान का नाम लेकर मुक्ति के लिए चेष्टा करता है, और कोई वही नाम लेकर चोरी करता है अथवा पाखण्ड रचता है; तो यह सब क्या भगवान के दोष कहे जा सकते हैं? — श्रीरामकृष्णदेव

सन्त रविदासजी की दार्शनिक चेतना

डॉ. रामनिवास, अजमेर

(गतांक का शेष भाग)

भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन में जीवात्मा को जानने और समझने का प्रयास प्राचीन काल से ही हो रहा है। रविदासजी ने जीव अथवा आत्मा का वर्णन अद्वैत वेदान्त के आधार पर किया है। साथ ही उन्होंने जीव की स्वयं की महत्ता और अस्तित्व को भी प्रस्तुत करते हुए इसे सर्वोच्च माना है। साधना, भक्ति, मुक्ति, ज्ञान-विज्ञान जो भी श्रेष्ठ है, वह मनुष्य जीवन में ही सम्भव है। मनुष्य जन्म की महिमा को स्वीकार करते हुए उन्होंने कहा है –

त्रिगुण योनि अचेत सम्भव, पाप पुण्य असोच।
मानुषावतार दुर्लभ, तिहुँ संगति पोच।।

मनुष्य-जन्म लेकर ही जीव अपने सत्प्रयत्नों से 'सत्य साधना' करके सदा-सदा के लिए आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाता है। मनुष्य-जन्म में ही सबने उत्तम गति पायी है। बड़े-बड़े ऋषि, मुनि, आत्मज्ञानी, ध्यानी, संत, महन्त, तपस्वी, सिद्ध, साधक, भक्त, मुक्त, तपस्वी, ज्ञानी, अवतार, तत्त्वज्ञानी इत्यादि सभी क्षेत्र के विचारक वैज्ञानिक मनुष्य देह पाकर ही हुए हैं। अत: जीव का महत्त्व सर्वोपरि है। जीवात्मा का ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। जीव किसी का अंश नहीं है, यह स्वयं स्वतन्त्र और अपने आप में पूर्ण है, किन्तु कब? जब आत्मज्ञान उपलब्ध हो जाए तब।

३. वेद, कतेब, कुरान और पुराण पर उनकी दृष्टि – विभिन्न धर्म-ग्रन्थों में जो सत्य और सुन्दर समस्त मनुष्य जाति के लिए एक समान रूप से मान्य और अनुकरणीय है, उसमें रविदासजी की आस्था है, परन्तु जहाँ पर भेदभाव और विषमता का चिन्तन है, जो किसी प्राणी के लिये कल्याणकारी नहीं है, उसका उन्होंने विरोध किया है। रविदासजी किसी के विरुद्ध प्राय: नहीं थे। वे पाखण्ड, अंधश्रद्धा, अज्ञान, अंधविश्वास और असत्य के प्रबल विरोधी थे। मध्यकाल में जब समाज के आध्यात्मिक मार्गदर्शक कहे जानेवाले पण्डित, मुल्ला अपने स्वार्थवश पाखण्डपूर्ण धारणाओं को ही वेद कतेब कुरान और पुराण समर्थित बताकर उन्हें लोकजीवन में बलपूर्वक थोप रहे थे, तब जन-साधारण भ्रमित हो रहा था। ऐसे में उन्होंने स्पष्ट कहा कि वेद-पुराण सुनकर तो निरन्तर शंकाएँ ही उत्पन्न होती हैं –

कर्म अकर्म विचारियै, संका सुनि वेद पुरान।
संसा सदा हिरदै बसै, कौन हिरै अभिमान।।

संसार में वेदों को सभी रोगों और दुख-दर्द को दूर करनेवाला वैद्य माना जाता है, परन्तु इन वेदों में कुछ और ही बात कही गई है और हमारा आत्म अनुभव ज्ञान कुछ और ही तत्त्व दर्शा रहा है, ऐसे में किसका कहना सत्य माना जाए –

जग में बेद बैद मानी जै।
इन मंहि अवरू अगम कछु औरे, कहौ कवन परि कीजै।।

वेद, कुरान, पुराण और उपनिषद इत्यादि धर्म ग्रन्थों का समर्थन उन्होंने कहीं पर भी भावुकता अथवा अंधश्रद्धा में डूबकर नहीं किया है। उन्होंने वेद एवं शास्त्रों के अंधानुकरण का विरोध करते हुए कहा है कि इनके द्वारा न तो तत्त्व ज्ञान प्राप्त हो सकता है और न ही परमपद मिल सकता है। इसलिए वे चारों वेदों के विभिन्न कर्मकांडों का खण्डन करते हुए एक परमात्मा के चरणों में प्रणाम करते हैं –

चरिउं बेद किया कंडौति।
जन रैदास करै डंडौति।।

जिस धर्म ग्रन्थ अथवा भक्ति साधना से मनुष्य समाज में विषमता और धार्मिक कट्टरता फैलती हो, ऐसे ग्रन्थ और भक्ति किसी काम की नहीं है। हिन्दू और मुस्लिम के नाम पर आई विषमता का उन्होंने विरोध किया है। वे कहते हैं कि ऐसी भक्ति का न तो कोई लाभ है और न ही कोई मूल्य। जब तक कि सभी धर्मों के प्रति एक सद्भावना पूर्ण समदृष्टि विकसित नहीं हो जाती –

क्रिस्न करीम राम हरि राघव, जब लग एक न पेषा।
बेद कतेब कुरान पुरानन, सहज एक नहीं वेषा।।

भक्ति आन्दोलन के प्रमुख स्वर रविदासजी ने अपने आध्यात्मिक चिन्तन सर्वधर्म समभाव के मानवतावादी विचारों को समाज की अन्तिम पंक्ति के अन्तिम मनुष्य तक पहुँचाने का महान कार्य किया है। उनकी धार्मिक चेतना का मूल आधार है मनुष्य को मनुष्य से जोड़ना। जो कोई इसमें

बाधा डाले, चाहे वे उच्च धर्म ग्रन्थ वेद आदि ही क्यों न हों, उन्हें वे स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टि प्रत्यक्ष मानव पर है, परोक्ष भगवान पर नहीं। धर्मशास्त्रों का पाठ तथा प्रवचन तो प्रसारित होता रहता है, लेकिन प्रसारित करने-करानेवालों का सामाजिक आचरण भेदभाव पूर्ण बना रहता है। फिर धर्मशास्त्र किस प्रकार अनुकरणीय हुए? जाति एवं वर्णश्रेष्ठता और सम्प्रभुता का अभिमान बना रहने के कारण हृदय की निर्मलता का विकास नहीं हो पाता। अत: वे इन धर्मशास्त्रों का अंधानुकरण नहीं करते। धार्मिक पुस्तकों में बताए गए आदर्श जीवन में उतारने से पूर्व मनुष्य को स्वयं की बुद्धि-विवेक का अनुसरण आवश्यक है।

४. संसार के प्रति उनकी दृष्टि – संत रविदासजी को संसार और संसार-सत्ता की पूर्ण समझ थी। संसार के सच को समझने के लिए श्रद्धा एवं भावुकता की आवश्यकता नहीं, बल्कि विवेक एवं बुद्धि की आवश्यकता है। रविदासजी की दृष्टि में संसार बन्द अथवा खुली आँखों का सपना नहीं है, बल्कि संसार अपने स्थान पर यथार्थ और ठोस सत्य है। संसार को समझने के लिए संसार के भीतर झाँकना आवश्यक है। संसार में अनेक प्रकार से वस्तु एवं द्रव्यों का बनना और मिटना होता रहता है। जिस कारण यह भौतिक संसार अपनी गति और स्वभाव से निरन्तर चल रहा है। उनके अनुसार यह संसार मन का प्रतिबिंब या कल्पना नहीं है। यह संसार असत्य भी नहीं है, लेकिन संसार से हमारा सम्बन्ध स्वप्नवत अथवा औपाधिक अवश्य है। इसीलिए रविदास जी कहते हैं —

माधवे किआ कहीए भ्रमु ऐसा।
जैसा मानीए होई न तैसा।।
नरपति एकु सिंघासनि सोइआ सुपने भइआ भिखारी।
अछत राज बिछुरत दुखु पाइआ सो गति भई हमारी।।

संसार में जीवन और समय कभी रुकता नहीं है। जो दिन आया है, वह उसी तरह जाएगा भी। यहाँ सभी यात्री हैं, जाना सभी को पड़ेगा। सभी प्राणियों के सिर पर मृत्यु सवार है। सांसारिक मोह के कारण मनुष्य आत्मज्ञान के प्रति सोया पड़ा है। अब जागकर अपने स्वरूप को समझ ले। यहाँ जीवन और जगत से सम्बन्ध स्थायी और शाश्वत नहीं है –

जो दिन आवहि सो दिन जाहि, करना कूचु रहनु थिरु नाही।
संगु चलत है हम भी चलना, दूरि गवनु सिर उपरि मरना।
किआ तू सोइआ जागु इआना, तै जीवनु जगि सचु करि जाना।

संसार के प्रति रविदासजी की दृष्टि अद्वैतवाद से प्रभावित होते हुए भी व्यवहारवादी है। यह जगत और इसके सम्बन्ध मिथ्या और भ्रम ही नहीं हैं, बल्कि संसार मनुष्य की कर्मस्थली भी है। मनुष्य का जन्म दुर्लभ है और इस जन्म में किए गए शुभ कर्म मनुष्य को जन्म-मरण से मुक्त करते हैं, अशुभ कर्म जीव को कष्टों में डालते हैं। यमराज संसार में किए कर्मों का हिसाब अवश्य ही माँगेगे –

कहु रविदास भइओ जब लेखो,
जोई जोई कीनी सोई सोई देखिओ।
क्या तैं खरचा, क्या तैं खाया, चलि दरिहाल दीवान बुलाया।
साहिब तो पे लेखा लेसी, भीर परै तूं भरि भरि देषी।।

सांसारिक रंग कच्चा है, जो जल्दी ही अपनी चमक खो देता है। जैसे सैंबल का फूल अधिक समय तक अपनी रंगीन आभा बनाए नहीं रह सकता। ठीक ऐसे ही कुसुंभ का फूल भी होता है। लेकिन मंजीठ का रंग पक्का और स्थायी होता है। भक्ति मार्ग में संसार का रंग नहीं, बल्कि ईश्वर रूपी मंजीठ का पक्का रंग चाहिए –

जैसा रंग सैंबल करि, ह्वै तैसा यहु संसार।
हौ रंग रंगौ राम मंह, भणै रैदास विचार।।
जैसा रंग कुसुम्भ का, तैसा यह संसार।
मेरे रमईए रंग मंजीठु का कहु रैदास चमार।।

संसार रूपी वट बीज का अन्तिम परिणाम बीज ही है। वट का बीज सूक्ष्म होते हुए भी उसका विस्तार व्यापक है। मूल तत्त्व वट बीज की तरह ही लघु-सूक्ष्म है। सूक्ष्म से ही आकार बनता है। तात्त्विक दृष्टि से देखा जाए, तो सत्य की सत्ता सूक्ष्म रूप में यहाँ संसार में परोक्ष रहती है। उसी सूक्ष्म सत्य की शक्ति का विस्तार भौतिक संसार सहित तीनों लोकों में दिखाई देता है अथवा आभासित होता रहता है। बीज, वृक्ष, रूप में जहाँ पर उगता है, फल के समाप्त होने पर वहीं विलीन भी हो जाता है। ठीक ऐसे ही यह दिखाई देनेवाला पंच भौतिक संसार जहाँ प्रतिभासित हो रहा है, वहीं उस सहज शून्य में विलीन भी होता रहता है –

बटक बीज जैसा आकार, परयो तीनि लोक पासार।
जहाँ का उपजा तहाँ बिलाई, सहज सुन्न में रहयो लुकाई।।

एक और 'सत्य' सत्ता है, दूसरी ओर यह जगत अथवा प्रकृति है। इन दोनों के मध्य 'जीवात्मा' फँसी हुई है। जीवात्मा और संसार का तथा संसार के माध्यम से जीवात्मा

का 'सत्य' सत्ता के साथ बड़ा विचित्र और रहस्यपूर्ण सम्बन्ध है।

५. माया के प्रति विचार-दृष्टि – जहाँ पर मनुष्य का मन मोहित हो जाए, वही उसके लिए माया है। माया के दो भेद विद्या और अविद्या भी किए गए हैं। माया की अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। मन का मोह ही माया है। जिन वस्तुओं, प्राणियों और पदार्थों में मनुष्य का मन मोहग्रस्त हो जाए, वही उसके लिए माया है। मन के अन्दर जो पाँचों विषयों का लोभ-मोह बना रहता है, यही माया का रूप है। माया का स्थान हमारा मन ही है। मन से ही माया निकलती है और दुखी करती है। माया मन की ही सृष्टि है और यह हमारी ही बनाई हुई है। मनुष्य के अपने ही बनाए हुए राग-द्वेष उसे बाँधने के लिए माया बन जाते हैं। सांसारिक बंधन झूठे और माया रूपी हैं, जो मनुष्य को तीनों तापों में जलाते रहते हैं। राम-नाम जपने से ही मनुष्य की माया से मुक्ति संभव है –

झूठी माया जग डहकाया, तौ तीनि ताप दहै रे।
कहै 'रैदास राम जपि रसना, माया काहू कै संग न रहै रे।

माया मनुष्य के मन से अलग कोई बलवान सत्ता नहीं है कि जिस पर मनुष्य का कोई वश न चले। माया ईश्वर की बनाई हुई कोई ऐसी शक्ति नहीं है कि जैसे चाहे जीवों को नचाए। माया के सम्मुख जीवात्मा लाचार नहीं है। किसको-किसको समझाकर कहा जाए कि मनुष्य के मन में रमे हुए मोह-लोभ के अतिरिक्त कहीं पर कोई माया नहीं है। माया के निर्माण में जीव के मन का मोह ही तो कारण है। यदि मनुष्य अपने मन के मोह को त्याग दे, तो माया अपने आप ही मर जाती है। जीव की ही बनाई हुई माया जो द्वन्द्व मचाती है और अन्त में जीव का ही शिकार कर उसे खाती भी है। सारा संसार माया के द्वारा खाया जा रहा है। सुर-नर-मुनि सभी इससे भ्रमित हैं –

बरजि हो बरजि बीठुले, माया जग खाया।
महाप्रबल सब ही बसि कीये, सुर नर मुनि भरमाया।

रविदासजी सीधी और स्पष्ट बात करते हुए कहते हैं कि माया मनुष्य के मन द्वारा निर्मित है और मनुष्य का मन ही इसे विवेकपूर्वक त्याग देने में समर्थ है। माया के स्थूल रूप में धन-सम्पत्ति आती है तथा सूक्ष्म माया के अन्तर्गत पंच विकार और तीन गुण आते हैं। माया के दोनों रूप ही बाँधते हैं। कनक और कामिनी का आकर्षण अत्यन्त प्रबल है, जो सबसे अधिक हानिकारक और पतित करनेवाला है।

रविदासजी की वाणी में माया के स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही रूपों का वर्णन मिलता है। मनुष्य भौतिक सुखों की अधिकाधिक प्राप्ति के लिए ही माया का विस्तार करता है, परन्तु यह माया का फैलाव ही जीव को दुखी करता है, जीवन में संतोषवृत्ति न रखने से मनुष्य तृष्णा की धारा में डूबते हैं। माया का परिणाम अंततः दुखदायी ही है। माया में आसक्त जीवन की विडम्बना देखिए –

माया कै भ्रमि कहाँ भुल्यौ जाहिगौ कर झारि।
देखि धौं इहां कौन तेरौ, सगा सुत नहीं नारि।।
तोरि उतंग सब दूरि करि हैं, दैहिंगे तनु जारि।
प्रान गयैं कहु कौन तेरौ, देखि सोच विचारि।।

वे मनुष्य को बार-बार अनेक उदाहरण देकर सचेत करते हैं कि माया के विकारों से अपने जीवन को मुक्त करो। विकारों से मुक्त शुद्ध मन ही आत्म-कल्याण का भागीदार बनता है। जीवन और जगत के आर-पार देखने वाले संत रविदास की दृष्टि से माया बच नहीं पायी।

६. मोक्ष अथवा निर्वाण पर विचार अनुभव – मोक्ष अथवा निर्वाण का अनुभव अनिर्वचनीय है, जो स्वसंवेद्य है। जीवात्मा की चेतना में आन्तरिक अनुभव तब तक सम्भव नहीं होता, जब तक कि उस परम सत्ता का साक्षात्कार न हो। आत्मसाक्षात्कार होने पर भी आत्मानुभव या आत्मज्ञान अवर्णनीय ही बना रहता है। आत्म अनुभव साक्षात्कार का साक्षी भी 'जीवात्मा' अपने आप स्वयं ही होता है। दूसरा कोई भी उस आत्मानुभव का साक्षी नहीं बन सकता। आत्मज्ञानी बोधवान से कोई आत्मानुभव पूछे, तो बोधवान क्या बताए? मूक अथवा गूँगा व्यक्ति गुड़ खाकर किस प्रकार उसके स्वाद को बताएगा। गूँगा व्यक्ति तो वाणी में असमर्थ है, वह कैसे और क्या बताए? वाणी में समर्थ व्यक्ति भी मात्र इतना ही कह पाएगा कि गुड़ मीठा और स्वाद अच्छा है। पूछनेवाले को खानेवाला स्वाद का अनुभव नहीं करा सकता। पूछनेवाले को गुड़ के स्वाद का अनुभव तभी होगा, जब उसने पहले या बाद में गुड़ खाकर स्वाद लिया हो। ठीक ऐसे ही आत्मज्ञान के अनुभव-रस को आत्मज्ञानी भी वाणी के द्वारा नहीं बता सकता। भौतिक खाद्य पदार्थों के रस का अनुभव – वर्णन ही जब असम्भव है, तो आत्म-साक्षात्कार अथवा मोक्ष – निर्वाण का वर्णन किस प्रकार सम्भव है? लोक प्रचलित भक्ति मार्ग के ढर्रे जैसे पढ़ने-गुनने से 'सत्य अनुभव' प्राप्त

नहीं होता। नाम सुनने से भी कुछ नहीं मिलता। जब तक अन्तर में आत्मानुभव का ज्ञान उदित नहीं होता, तब तक 'परम सत्य' उसी प्रकार दूर है, जिस प्रकार पारस मणि के स्पर्श के बिना लोहा कंचन बनने से दूर है –

पढ़ीए गुनीए नामु सभु सुनीए, अनभउ भाउ न दरसै।
लोहा कंचनु हिरनु होई कैसे, जऊ पारसहि न परसै।।

परमात्मा का मिलन अनुभव कुछ ऐसा है कि जो स्वयं की चेतना में प्रकट होने पर भी अनिर्वचनीय ही बना रहता है। एक बार प्रभु मिले, तो फिर कभी अलग नहीं होते। एक बार का आत्मानुभव सदा के लिए विस्मृत नहीं होता, वह अटल और स्थायी होता है। जीव स्वयं चाहे तो भी वह अलग नहीं हो सकता। सभी प्राणियों में परमात्मा है। सभी चेतन प्राणी परमात्मा में स्थित हैं। इस आत्मानुभव का साक्षी स्वयं जीव है, जो साधना कर रहा है, दूसरा कोई जीवात्मा इसका साक्षी नहीं बन सकता। इस अनुभव विचार तत्त्व को अनुभव करने और जाननेवाला जीव ही सर्वोच्च है। जो आत्मज्ञानी है –

ऐसो कछु अनुभउ कहत न आवै।
साहिब मेरा मिले, तउ को बिलगावै।।
सब में हरि हरि में सब हैं, हरि अपनौ जनि जाना।
आपनि आपि साषी नहिं दूसर, जाननहार सयाना।।

आत्म-अनुभव ज्ञान का कथन किस प्रकार किया जाए? साधक कैसे बताए कि उसका स्वरूप कैसा है? वह कौन है और किस स्थान पर रहता है? सहजावस्था में रूप, गुण, नाम और कर्म सब छूट जाते हैं और साधक ही स्वयं परमात्मा स्वरूप हो गया है। नाम, रूप, गुण-कथन तो कोई उसका कर सकता है, जो उससे अलग कोई दूसरा हो। यहाँ तो साधक ही उस परम तत्त्व में समाया हुआ है। जहाँ पर अभेद एकरूपता और समरसता हो, तो उसे क्या नाम, रूप और गुण से पुकारा जाए? मैं स्वयं ही परम तत्त्व स्वरूप हूँ –

अब का कहि कौन बताऊँ।
भणै रविदास अब का कहि गाऊँ, जऊ कोई औरहि होई।
जा स्यौ गाइहि गाई कहत है, परम रूप हम सोई।।

वह अपने जैसा स्वयं ही है। अकथ और अनुपमेय है। स्वयंभू और स्वयंप्रकाश है। उससे सब कोई विस्मित होकर कौतूहलवश उसे देखता ही रह जाता है। जो उसे देखता है, वह अपने आप तथा जगत को विस्मृत कर उसी में समा जाता है, फिर उसके रहस्य का वर्णन कौन करे?

७. मानवतावादी दृष्टिकोण – रविदासजी का दृष्टिकोण शुद्ध मानवीय दृष्टि लिए हुए है। मध्यकाल में जब धर्म और ईश्वर के नाम पर अंधश्रद्धा, भ्रम और पाखंड का प्रचार-प्रसार करके मनुष्य-मनुष्य में भेदभाव फैलाया जा रहा था, तब रविदासजी ने इस पाखंड के विरुद्ध आवाज उठायी। वे इस बात से सर्वाधिक दुखी थे कि ईश्वर के नाम पर प्रत्यक्ष मनुष्य की हत्या तक को धर्मसम्मत ठहराया जा रहा है। किले, महल और यहाँ तक कि मंदिरों के निर्माण में भी जीवित मनुष्य को नींव में चुना जा रहा है। ईश्वर-वाणी का ढोंग रचकर धर्म के ठेकेदार, पंडे, पुजारी और पुरोहित भारतीय समाज के एक विशालतम अंग को अछूत तथा शूद्र बनाकर उसके मानवीय अधिकारों का भी हनन कर रहे हैं। हजारों वर्षों से यह सब हो रहा था। संत रविदास ने इस अत्याचार का डटकर विरोध किया। उन्होंने कहा कि मानव समाज में समस्त भेदभाव मानवकृत और कल्पित हैं, जो घृणित और स्वार्थ बुद्धि की देन है। वे मनुष्य को मात्र मनुष्य की दृष्टि से देखते हैं, हिन्दू, मुस्लिम, ब्राह्मण, शूद्र की दृष्टि से नहीं। मनुष्य केवल मनुष्य है, इससे अधिक कुछ हो ही नहीं सकता। प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन में सभी क्षेत्रों में उन्नति करने का एक समान प्रकृति प्रदत्त अधिकार है। पूजा गुणवानों की होती है। सद्गुणों से हीन व्यक्तियों की नहीं, चाहे वे ब्राह्मण ही क्यों न हो। गुणवान चांडाल भी पूज्य ही है –

रैदास ब्राह्मण मति पूजिये, जउ होवै गुण हीन।
पूजिहिं चरन चंडाल के, जउ होवै गुण परवीन।।

इसी प्रकार हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्ध में उन्होंने स्पष्ट कहा है –

हिन्दू तुरक मंहि नहीं कुछ भेदा, सभ मंह एक रकत और मासा।
दोउ एकह दूजा कोउ नहीं, पेख्या सोध रैदासा।।

उनकी वाणी और विचार का केन्द्र है मानवता की प्रतिष्ठा। रविदासजी की मानवतावादी मूल्यों की दृष्टि बड़ी तटस्थ और साफ है। जो धर्म मनुष्य-मनुष्य में ऊँच-नीच तथा भेद-दृष्टि फैलाए, उसमें किसी की आस्था नहीं हो सकती। अत: वे मंदिर और मस्जिद के प्रति भी संतुलित और तटस्थ दृष्टिकोण अपनाते हैं –

मस्जिद सों कुछ घिन नहीं, मंदिर सो नहीं पियार।
दोउ मंह अल्लाह राम नहीं, कह रैदास चमार।।

धर्म, समाज, वर्ण, जाति, संत, महन्त, अवतार, देवी, देवता, मन्दिर, मस्जिद – ये सभी मनुष्य के उत्थान के लिए हैं, न कि मनुष्य इनके लिए है। इन्हें मनुष्य के शोषण का साधन नहीं बनने देना चाहिए। रविदासजी की स्पष्ट मान्यता है कि पराधीनता किसी भी प्रकार की हो, चाहे धर्म की ही क्यों न हो, वह मानव के स्वतन्त्र विवेक को नष्ट कर देती है। इसलिए वे कहते हैं कि पराधीन व्यक्ति का कोई धर्म नहीं है। वह सबसे हीन है, पराधीनता पाप भी है, पराधीन, पापी व्यक्ति से कोई प्रेम नहीं करता –

पराधीन को दीन क्या, पराधीन बेदीन।
रविदास दास पराधीन को, सबहिं समझै हीन।।
पराधीनता पाप है, जान लेहु रे मीत।
रविदास दास पराधीन सौं, कौन करै है प्रीत।।

पराधीनता को पुष्ट करनेवाला कोई भी विचार, व्यवहार अथवा उपदेश-प्रवचन, मानव धर्मसम्मत नहीं हो सकता। मानव-चेतना परावलम्बी न बने, वह स्वस्थ मानवीय दृष्टिकोण लेकर पूर्ण विकसित हो, इसी में मनुष्य का कल्याण है। जिस आदर्श समाज और मनुष्य को रविदासजी हमारे सम्मुख प्रस्तुत करते हैं, वह मानवीय चेतना पर आधारित स्वतन्त्र, विवेकसम्पन्न व्यक्ति और समाज है। उनके अनुभव का व्यक्ति और समाज समतावादी विचारधारा का व्यक्ति समाज है। वे मनुष्य को पूर्णता की विचार-दृष्टि से देखते हैं। सभी नैतिक और मर्यादित आचरण करें। सभी एक-दूसरे की स्वतन्त्रता का ध्यान रखें। मानवतावादी विचार चेतना की संकल्पना उनके साहित्य में सर्वत्र दिखाई देती है।

८. पूर्णतः विरक्त एवं माया त्यागी – रविदासजी की वाणियों में उनका पूर्णत: विरक्त और माया-त्यागी संत का रूप ही उभरकर आया है। रविदासजी ने गृहस्थ जीवन के प्रति सम्मान भी दिखाया है। यह जानकारी रविदास रामायण, परिचई, भक्तिमाल, रविदास पुराण नामक पुस्तकों में मिलती है। रविदासजी की वाणी में घर, गृहस्थ-जीवन को न त्यागने का भी उल्लेख मिलता है। उनकी पत्नी और एक पुत्र होने का लेखकों ने बार-बार उल्लेख किया है। इधर रविदास पंथ के संस्थापक संत ज्ञानभिझुक जी महाराज और उनके शिष्य समनदास जी ने स्पष्ट कहा है – ''संत रविदासजी बाल ब्रह्मचारी और आजीवन विरक्त संत थे।'' उनकी वाणी में प्रस्फुटित वैराग्य भावना भी इसी तथ्य की पुष्टि करती है –

रविदास सोइ साधु भलो, जउ जग मंहि लिपत न होय।
गोविंद सों रांचा रहइ, अरु जानहिं नहिं कोय।।

धन और स्त्री में ही मग्न रहने से मनुष्य परमार्थ से खाली रह जाता है। मृत्यु को हम सभी भूले रहते हैं। धन और यौवन की आशा में मनुष्य सत्य से भटक जाता है। सत्य का मार्ग पूर्ण गुरु ही दिखाते हैं –

धन दारा मंह रहियो मगन नित, गुन्यौ न मीचु कौ ताप।
कहि रविदास गुरु राह दिखावइ, त्रिषा बुझि मिटि मन संताप।।
माधउ सतगुरु सब जग चेला, अब कै बिछुरै मिलन दुहेला।
धन जोबन की झूठी आसा, सति सति भाषैं जन रविदासा।।

माया के दोनों रूप विद्या और अविद्या परमार्थ जीवन में बाधक बन जाते हैं। आत्मकल्याण के पथ में माया के झीने पर्दे साधक को भटकाते हैं। धन-सम्पत्ति और यश-प्रतिष्ठा सहित संसार के माने हुए रिश्ते-नाते सच्ची भक्ति में अवरोध हैं। उनका स्पष्ट कथन हैं –

माया के भ्रम कहा भूल्यो, जाहुगे कर झारि।
कह रविदास सत वचन गुरु के, सो जिव ते न बिसारि।।

संसार में अनेक तरह के लोभ-लालच हैं, जो मनुष्य को भक्ति-पथ से विमुख करते रहते हैं। मनुष्य इस संसार में धन-सम्पत्ति से सर्वाधिक अभिभूत होता है। वह माया-जाल से फँसकर सांसारिक सम्मोहन शक्ति में ही खोया रहता है। लेकिन सच्चा प्रभु-भक्त रविदास संसार के किसी भी प्रकार के आकर्षण में नहीं बँधा है। उसने संसार की सभी सुख-सुविधाओं सहित माया का पूर्णत: त्याग कर दिया है। यहाँ तक कि अपना तन-मन और सर्वस्व न्यौछावर कर दिया है – **'आपा मेटि मैं मेरी खोही, गरब त्यागि अरपिहि निज देहि'** कहकर आप संसार से पूर्णत: विरक्ति और उच्चतम प्रभु-भक्ति की ओर ध्यान आकृष्ट करा रहे हैं। उनके प्रत्येक कथन के पीछे उनका आत्मज्ञान से परिपूर्ण व्यक्तित्व और निज अनुभव काम करता हुआ दिखाई देता है। वे कहते हैं कि भक्ति और मान-बड़ाई, परमात्मा और स्वार्थ-प्रवृत्ति इन दोनों का आपस में कहीं भी संयोग नहीं हो सकता। ये साथ-साथ नहीं चल सकते। जैसे कोई व्यक्ति एक साथ दो नावों या दो घोड़ों पर सवार नहीं हो सकता – **'दोई घोड़ा चढ़ि कौउ न पहुँचो सतगुरु कहे पुकारी।'** प्रभु की भक्ति और सांसारिक प्रेम, दोनों परस्पर विरोधी हैं। ○○○ **(समाप्त)**

आध्यात्मिक पथ पर तो हमें स्वयं ही चलना होगा

स्वामी सत्यरूपानन्द
सचिव, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

हम जैसा देखते हैं, उसका प्रभाव हमारे कर्मों पर पड़ता है। इसलिए अच्छा ही सोचो और अच्छा ही देखो। इससे हमारा आध्यात्मिक जीवन अच्छा बनेगा। हमारे जीवन को उन्नत बनाने के लिये भगवान और अपने मन की ओर ही देखना है। हमको यह सोचना चाहिए कि हम क्यों जीवित हैं? यदि जीवन का कोई उद्देश्य है, तो वह भगवान ही हैं। दूसरे लोगों की रुचि अलग है, हमारी रुचि अलग है। हमारी रुचि भगवान में है, तो हमें अच्छे ढंग से रहना चाहिए। यदि विवेक से काम नहीं करोगे, तो भला नहीं होगा। संसार में सब कुछ मिल रहा है, शराब भी मिल रहा है और दूध भी मिल रहा है, किन्तु विवेकी मनुष्य शराब नहीं पीता, वह दूध पीता है। क्योंकि विवेकी व्यक्ति विचार करता है कि शराब जीवन के लिए हानिकर है। इसी प्रकार हमें सोच-विचार कर जीवन में उपयोगी अच्छी चीजों को, अच्छे विचारों को ग्रहण करना है।

यदि आप किसी वस्तु की इच्छा रखते हैं, जो हमारे कल्याण की नहीं है, तो भगवान हमें वह वस्तु नहीं देते। विचार से हमें अच्छे-बुरे का ज्ञान होता है, तब बुरी चीजों की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। हमें यह देखना चाहिए कि हमारे जीवन में कितना तनाव प्रकृति से हो रहा है और कितना स्वयं हमारे द्वारा हो रहा है। जैसे भोजन करना हमारे लिए आवश्यक है, किन्तु हम क्या भोजन करें, यह हम पर ही निर्भर करता है। यह चुनाव हमें ही करना है। विवेक से ही हमारा जीवन बनता है। कुछ चीजें भगवान के हाथ में है। हम सात्त्विक भोजन करेंगे, तो रक्त शुद्ध बनेगा, सात्त्विक बुद्धि होगी, अच्छे विचार आएँगे। तामसिक भोजन करेंगे, तो विचार-बुद्धि तामसिक होगी।

यह कभी मत सोचना कि हमारी सभी समस्याओं का समाधान संसार करेगा। सभी समस्याओं का सामना हमें ही करना है। कठिनाईयों में आध्यात्मिक शक्ति ही हमारे काम में आती है। जीवनपर्यन्त सत्कर्म करते रहें। हम सोचते हैं कि जब अनुकूलता आयेगी, तब हम सत्कर्म करेंगे, पर ऐसा होता नहीं। हमने पिछले जन्म में जो कर्म किया है, उन कर्मों का फल हम अभी भुगत रहे हैं। इस जन्म के कर्मों से ही हमारा अगला प्रारब्ध बनता है, जो हमें अगले जन्म में मिलता है। भगवन्मय जीवन ही हमारा सच्चा जीवन है। हमारा परम सौभाग्य है कि हमारा ईश्वर में विश्वास है। संसार में बुरे लोग भी हमें आकर्षित करते हैं, किन्तु संसार के प्रलोभनों और बुरे लोगों से बचना चाहिए।

सत्संग करना चाहिए। आश्रम का वातावरण, वहाँ जो बड़े साधु रहते हैं, उन पर ही निर्भर रहता है। ऐसे अच्छे गुरु से, ऐसी अच्छी संस्था से जुड़ना चाहिए, जहाँ हमारे मन के विकार नष्ट होते हैं, जहाँ जाने से अच्छे विचार आते हों, मन ईश्वर की ओर जाता हो। यदि अच्छा परिवेश न मिले, तो अकेले रहना ही अच्छा है। सभी साधना मन से होती है। इसलिए मन का अच्छा होना आवश्यक है। सारा परिवर्तन अपने मन में ही लाना पड़ता है। सारा उत्तरदायित्व हमारे ऊपर ही है। अपना जीवन ठीक करने का पूरा दायित्व हमारा ही है। हमें कड़े परिश्रम से, यथोचित संयम से अपने मन को ठीक करना होगा। कहा गया है – मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो:।

ऐसे भक्त का भगवान पर विश्वास रहने से सब कुछ ठीक हो जाता है। जब हमारा मन खराब होता है, तब गुरु को ईश्वर समझ कर ही उनसे प्रार्थना करनी चाहिए और धैर्य रखकर उन पर विश्वास रखना चाहिए। गुरु की आज्ञा नहीं मानने से कष्ट भुगतना पड़ता है। भगवान या गुरु हमारी सहायता के लिए सदा तत्पर हैं, लेकिन आध्यात्मिक जीवन की यात्रा हमें स्वयं ही प्रारम्भ करनी होगी। जब हम भगवान पर विश्वास कर इस यात्रा में निकल पड़ेंगे, तो यह अनुभव करेंगे कि भगवान सदा हमारे साथ हैं और प्रत्येक पल हमारी रक्षा कर रहे हैं। लेकिन पथ पर चलना तो हमें ही पड़ेगा। यात्रा तो हमें ही आरम्भ करनी होगी। ○○○

हमारे स्वभाव में संगठन का सर्वथा अभाव है, पर इसे हमे अपने स्वभाव में लाना है। इसका महान रहस्य है ईर्ष्या का अभाव। अपने भाइयों के मत से सहमत होने को सदैव तैयार रहो और हमेशा समझौता करने का प्रयत्न करो। यही है संगठन का पूरा रहस्य। – स्वामी विवेकानन्द

गीतातत्त्व-चिन्तन (५)

नवम अध्याय

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी महाराज रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के संस्थापक सचिव थे। उनका 'गीतातत्त्व-चिन्तन' भाग-१ और २, अध्याय १ से ६वें तक पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुका है और लोकप्रिय है। ८वाँ अध्याय 'विवेक ज्योति' के सितम्बर, २०१६ से नवम्बर, २०१७ अंक तक प्रकाशित हुआ था। अब प्रस्तुत है ९वाँ अध्याय, जिसका सम्पादन ब्रह्मलीन स्वामी निखिलात्मानन्द जी ने किया है – सं.)

ईश्वर इस जगत के निमित्त और उपादान कारण श्रीकृष्ण का दिव्य स्वरूप

प्रभु ने कहा था कि मैं तुम्हारे समक्ष अपना स्वरूप दिखाऊँगा। तो वे चौथे और पाँचवें श्लोक में अपना स्वरूप दिखला रहे हैं –

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।।४।।
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।।५।।

मया (मुझ) अव्यक्तमूर्तिना (अव्यक्त से) इदम् सर्वम् (यह सब) जगत् (जगत) ततम् (परिपूर्ण है) च (और) सर्वभूतानि (सब प्राणी) मत्स्थानि (मेरे अन्दर स्थित हैं किन्तु) अहम् (मैं) तेषु (उनमें) न अवस्थित: (स्थित नहीं हूँ)।

"मुझ अव्यक्त से यह सब जगत परिपूर्ण है और सब प्राणी मेरे अन्दर स्थित हैं किन्तु मैं उनमें स्थित नहीं हूँ।"

भूतानि (सब प्राणी) मत्स्थानि (मुझमें स्थित) न (नहीं हैं) मे (मेरे) ऐश्वरम् (दिव्य) योगम् (योग) पश्य (देख) भूतभृत् (भूतों का पालक) च भूतभावन: (और जनक) मम आत्मा (मेरा तत्त्व) भूतस्थ: न (भूतों में स्थित नहीं है)।

"सब प्राणी मुझमें स्थित नहीं हैं, मेरे दिव्य योग को देख कि भूतों का पालक और जनक मेरा तत्त्व भूतों में स्थित नहीं है।"

ये जो दो श्लोक हैं, इन दोनों के अर्थ में थोड़ा-सा विरोध लगता है। पर हम देखेंगे कि उस विरोध को किस प्रकार समाहारित किया जा सकता है।

चौथे श्लोक में कहा - मया ततमिदं जगदव्यक्तमूर्तिना – अपने स्वरूप का उद्घाटन मुझ अव्यक्त मूर्ति के द्वारा । एक तो श्रीकृष्ण की वह मूर्ति है, जो व्यक्त है, जो दिखाई देती है। जो दिखाई देता है, जो भी वे रहे होंगे, जैसे भी रहे होंगे, वह व्यक्त मूर्ति है। अर्जुन के सामने, जो श्रीकृष्ण की मूर्ति दिखाई दे रही है, वह है व्यक्त मूर्ति। एक भगवान की मूर्ति है, जो अव्यक्त है, जो कभी दिखाई नहीं देती। जो संसार में ततम् है - व्याप्त है। कहते हैं - मया ततमिदं सर्वम् - मुझ अव्यक्त मूर्ति के द्वारा यह सारा संसार व्याप्त है। मत्स्थानि सर्वभूतानि - मेरे भीतर ये सारे भूत हैं। इस संसार में जितने भूत हैं, जितने प्राणी हैं, ये सभी मेरे भीतर हैं। न चाहं तेष्ववस्थित: - पर मैं उनके भीतर नहीं हूँ। मेरे भीतर सभी हैं, पर मैं उनके भीतर नहीं हूँ। इसका मतलब क्या है? इसका मतलब एक यह हो सकता है कि प्रभु के भीतर सब हैं। पर ये जो भूत हैं, उनके भीतर प्रभु नहीं हैं। मानो ये जो भूत हैं, वे उस अनन्त को सीमित नहीं कर सकते। इस अर्थ में यहाँ पर कहा गया कि मेरे भीतर वे सब हैं, परन्तु मैं उनके भीतर नहीं हूँ। वे मुझे कभी सीमित नहीं कर सकते। जैसे मान लीजिए, यह आकाश है। आकाश में आप बादल देखते हैं, तो क्या आप कहेंगे कि ये बादल आकाश में है और आकाश क्या बादल में है? आप कहेंगे आकाश कैसे बादल में हो सकता है? ठीक इसी प्रकार कहते हैं कि मेरे भीतर सारा भूत समुदाय समाया हुआ है, पर मैं भूतों के भीतर नहीं हूँ, अर्जुन! इसका केवल इतना तात्पर्य है कि मेरे रूप अनन्त हैं, कोई विशिष्ट रूप मुझे सीमित नहीं कर

सकता। तुम ये जितने भी रूप देखते हो, ये सारे-के-सारे मेरे भीतर समाहित हैं। प्रभु का यही कथन है कि मेरी जो अव्यक्त मूर्ति है, उसी के द्वारा यह सारा संसार व्याप्त है। इस श्लोक में प्रभु ने अपने स्वरूप का कथन किया है।

इसके बाद वे पाँचवें श्लोक में कहते हैं - न च मत्स्थानि भूतानि - ये भूत मेरे भीतर नहीं हैं। एक श्लोक पहले कहा था कि मेरे भीतर ये सारे भूत हैं। दूसरे ही क्षण क्या कहते हैं? मेरे भीतर ये भूत नहीं हैं। क्या मतलब हुआ इसका? प्रभु के कहने का मतलब है - पश्य मे योगमैश्वरम् - तू मेरे इस योग का ऐश्वर्य देख, मेरे योग का खेल देख, मेरा कौतुक देख। भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावन:। भूतभृत् का अर्थ है भूतों का पालन-पोषण करनेवाला और भूतभावन का अर्थ है - जो भूतों को उत्पन्न करता हो। तो उत्पन्न करना और पालन-पोषण करना। जैसे हम पढ़ते हैं ब्रह्मा उत्पन्न करते हैं और विष्णु पालन-पोषण करते हैं। तो ठीक यही भाव है - मैं ब्रह्मा हूँ या मैं विष्णु हूँ। भूतों को उत्पन्न करनेवाला और उनका पालन-पोषण करनेवाला भी मेरी ही आत्मा है। मेरा अपना स्वरूप है - न च भूतस्थ: - वह भूतों में स्थित नहीं है, यह बात समझ में आती है। पहले भी उन्होंने कही थी।

ईश्वर जगत को उत्पन्न करते हुए भी जगत से निर्लिप्त हैं : एक युवती का उदाहरण

भगवान कहते हैं – मैं पालन-पोषण अवश्य करता हूँ, परन्तु मैं उनके भीतर में नहीं हूँ। मैं असम्पृक्त हूँ, निर्लिप्त हूँ। अर्जुन! उनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। मैंने भले ही उत्पन्न किया हो, मैं भले ही उनको धारण करता हूँ। मैं भले ही उनका पालन-पोषण करता हूँ। परन्तु मेरा किसी प्रकार का आसक्तिमय सम्बन्ध उनसे नहीं है। मैं वास्तव में उन भूतों में स्थित नहीं हूँ। यह बात तो समझ में आती है। पर 'न च मत्स्थानि भूतानि', तो बिलकुल विपरीत बात है। अब इसको ऐसे समझने की चेष्टा करेंगे। आकाश मानो प्रभु का वह रूप है, जिसको हम निर्गुण कहेंगे या निर्गुणस्वरूप। हमें मेघ दिखाई देते हैं। पहले उन्होंने कहा कि ये बादल कहाँ हैं? तो ये बादल आकाश में हैं। अब कहते हैं कि ये बादल आकाश में नहीं हैं। इसका मतलब क्या हुआ? इसका तात्पर्य यह बतलाते हैं - बादल अलग है, आकाश अलग है।

इस प्रकार भूतों की और ईश्वर की कल्पना हमें नहीं करनी है। यही उनका योग ऐश्वर्य है। जैसे हम कहें कि ये जो बादल आकाश के भीतर हैं, तो इसका मतलब यह हुआ कि बादल एक अलग चीज है और आकाश एक दूसरी चीज है। और एक सत्य आकाश के भीतर और एक सत्य बादल है। तो कहते हैं कि उस अर्थ में नहीं लेना चाहिए। ऐसा अगर तुम सोच लोगे, तो सारा जीव-जगत तुम्हें सत्य मालूम पड़ेगा। इस अर्थ में वे मेरे भीतर नहीं हैं। वस्तुत: वे नहीं हैं। जो दिखाई देता है, वह मेरा ही स्वरूप है। यह वे आगे चलकर बोलेंगे। यहाँ पर भगवान कृष्ण जो कह रहे हैं, उसका तात्पर्य क्या है? यदि हमने मान लिया कि जीव-जगत प्रभु के भीतर हैं, तो जैसे प्रभु सत्य हैं, वैसे जीव-जगत भी सत्य हो जायेगा। इसको काटने के लिए वे कहते हैं कि ये जीव-जगत मेरे भीतर नहीं हैं। अरे, बादल क्या आकाश में रहते हैं? बादल तो उड़ जायेंगे। वे तो खत्म हो जायेंगे। बादल तो हमेशा रहनेवाला नहीं है। हमेशा तो आकाश रहनेवाला है। इसीलिए अर्जुन, मैंने जो कहा कि सर्वभूत मेरे भीतर हैं, इसी को काटने के लिए मैंने कहा कि भूत मेरे भीतर नहीं हैं। कैसे नहीं हैं? वे तो एक दिन नष्ट हो जायेंगे, चले जायेंगे। मैं ही एकमात्र रहूँगा। ये भूत नहीं रहेंगे। इसीलिए बता दिया - न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्। तू मेरे इस योग के ऐश्वर्य को देख ले। क्या है आपके योग का ऐश्वर्य? भगवान का ऐसा ऐश्वर्य क्या है? यही ऐश्वर्य है कि मैं ही भूतों को जन्म देता हूँ। मैं ही भूतों को धारण करता हूँ। मैं ही भूतों का पालन-पोषण करता हूँ। परन्तु फिर भी मैं भूतों के भीतर नहीं हूँ। ठीक है, पालन, पोषण और सृजन यह सब हमने किया। परन्तु उससे मैं निर्लिप्त हूँ। यही मेरा ऐश्वर्य है। श्रीरामकृष्ण को एक बार प्रभु की माया शक्ति देखने की इच्छा हुयी। वह माया शक्ति जिसके द्वारा प्रभु सृजन करते हैं, पालन-पोषण करते हैं और फिर संहार करते हैं। यह कैसी शक्ति होगी? तत्काल! हम देखते हैं, उनको दर्शन मिला। क्या दर्शन मिला? एक अत्यन्त लावण्यमयी युवती ने एक बहुत सुन्दर बच्चे को जन्म दिया। श्रीरामकृष्ण आँखें फाड़ कर देख रहे हैं। विलक्षण दर्शन है। जन्म देकर कितने स्नेह के साथ अपना दूध पिला रही है। कितने स्नेहपूर्ण नेत्रों से अपने नन्हे से शिशु की ओर देख रही है। फिर उसका रूप अत्यन्त विकराल हो गया। उसकी

शेष भाग पृष्ठ २३३ पर

क्या आप आधुनिक हैं?

स्वामी ओजोमयानन्द

रामकृष्ण मठ, बेलूड़ मठ, हावड़ा

प्रसीदा इंजीनियरिंग महाविद्यालय की छात्रा थी। वह महाविद्यालय में भारतीय परिधान (सलवार-कमीज आदि) पहन कर जाया करती थी। इस कारण उसके सहपाठीगण उसे पुराने सोच वाली कहकर चिढ़ाया करते थे। उसके सहपाठी कटे-फटे, अंग प्रदर्शन करने वाले टी-शर्ट, जींस आदि पहना करते थे। इस बात पर कभी-कभी उन लोगों में आधुनिकता की बहस हो जाया करती थी, पर वे लोग प्रसीदा की कुछ सुनते ही नहीं थे। प्रसीदा का जन्मदिन आने वाला था और उसके सहपाठी उसे पार्टी देने को कहने लगे। सारे सहपाठी मिलकर यह योजना बना रहे थे कि इस बार प्रसीदा को आधुनिक बना ही देना है। इसलिए उन लोगों ने प्रसीदा को जन्मदिन मनाने के ढंग बता दिए कि हम गाड़ी से किसी स्थान पर जाएँगे, वहाँ जाकर जन्मदिन मनाएँगे। एक डिब्बे में कुछ पर्चियाँ होंगी, जिसमें कुछ लिखा होगा और सबको एक-एक पर्ची निकालनी होगी और उस पर जो लिखा होगा, उसे वैसा करना पड़ेगा। सब सोच-विचार कर प्रसीदा ने अपने जन्मदिन पर अपने समस्त सहपाठियों को सुबह बुलाया। जब वे लोग प्रसीदा के घर पहुँचे, तो देखा कि उसके घर सत्यनारायण की पूजा हो रही थी। पूजा में सम्मिलित न हो, उसके सारे सहपाठी छत पर जाकर मस्ती करने लगे। पूजा समाप्त होने पर सहपाठियों ने आपत्ति की कि उन लोंगों ने तो अलग ढंग से जन्मदिन मनाने की बात कही थी। तब प्रसीदा ने बताया कि अब वे लोग गाड़ी से कहीं जाएँगे। सब तैयार हो गए। सहपाठियों के साथ प्रसीदा के परिवार वाले भी साथ गए। वे सब बड़े आनन्द में थे। गाड़ी जाकर एक अनाथ आश्रम में रूकती है, तब सबको आश्चर्य होता है कि यहाँ जन्मदिन कैसे मनाएँगे। वहाँ पहुँचकर प्रसीदा सब बच्चों के समक्ष दीपक जलाती है, बच्चों को खिलौने बाँटती है, बच्चों के साथ खेलना-कूदना भी होता है। फिर सब बच्चों को भोजन परोसा जाता है, जिसमें प्रसीदा अपने सहपाठियों को भी भोजन परोसने का आग्रह करती है। अन्त में सहपाठियों की इच्छानुसार एक डिब्बे में कुछ पर्चियाँ रखी होती हैं, जिसे उसके सहपाठीगण एक-एक करके निकालते जाते हैं और उसमें जो लिखा होता है, वही उन्हें करना होता है। परन्तु बुद्धिमान प्रसीदा ने प्रत्येक पर्ची पर सामाजिक समस्याओं से सम्बन्धित विषय लिख रखे थे, जैसे - 'क्या माता-पिता को वृद्धाश्रम में छोड़ देना चाहिए', 'क्या विवाह के बाद बहू को अपने सास-ससुर से अलग होने के लिए अपने पति को बाध्य करना चाहिए' इत्यादि। सहपाठियों ने तो कुछ और ही सोच रखा था कि वे नाचेंगे, गाएँगे, ठुमके लगाएँगे, परन्तु मामला कुछ उलटा हो गया। अन्त में प्रसीदा की बारी आई और उसने आधुनिकता की पर्ची निकाली और आधुनिकता पर बोलने लगी – 'हमारी संस्कृति 'तमसो मा ज्योतिर्गमय'[१] की है। यहाँ किसी उत्सव पर प्रकाश बुझाए नहीं जाते, बल्कि प्रकाशित किए जाते हैं। हमारी संस्कृति में उपहार पाकर नहीं, बल्कि उपहार देकर प्रसन्नता बाँटी जाती है। हमारी संस्कृति में कोई भी उत्सव मात्र स्वयं को प्रसन्न करके नहीं, बल्कि सबके साथ मिलजुल कर मनाया जाता है। हमारी संस्कृति में सब कुछ पूजा है। भगवान की आराधना पूजा है, बच्चों की देखभाल पूजा है, अनाथों और गरीबों की सेवा पूजा है। क्या पाश्चात्य का अनुकरण ही आधुनिकता है? क्या प्रसिद्ध व्यक्तियों के जैसे कपड़े पहन लेना आधुनिकता है? क्या अभिनेता-अभिनेत्रियों के जैसे बालों को सँवारना आधुनिकता है? वर्तमान समय में युवावर्ग या तो पाश्चात्य का अनुकरण करता है अथवा अभिनेता-अभिनेत्रियों के जैसे सज-सँवरकर

स्वयं को आधुनिक समझता है। पर यह कदापि आधुनिकता का परिचय नहीं है...।' प्रसीदा के वक्तव्य को सुनकर आज उसके सहपाठी भी अनुभव कर रहे थे कि अनाथ आश्रम के बच्चों के चेहरे पर आई मधुर मुस्कान और खुशियाँ बाँट कर मिलने वाली ऐसी मन की शान्ति को, कभी भी क्लबों में ठुमके लगाकर नहीं पाया जा सकता। वास्तव में प्रसीदा ने आज सबके आचरणों पर प्रश्नचिह्न लगा दिया था। क्या वे आधुनिक हैं? आज युवावर्ग ही नहीं, बल्कि पूरे समाज के लिए आधुनिकता एक विचारणीय तथ्य हो गया है। आइए, इस आधुनिक विषय पर हम आधुनिक ढंग से विचार करें।

आधुनिकता क्या है?

वैसे तो आधुनिकता को कुछ शब्दों में पिरो पाना कठिन है, फिर भी हम उसके मूल ढांचे को सम्बोधित करने का प्रयास करते हैं – 'आधुनिकता वह नवीन दृष्टिकोण है, जिससे एक स्वस्थ और विकासशील समाज का निर्माण हो, जिसमें स्वतंत्रता की सुगंध हो, पर स्वच्छंदता की दुर्गंध न हो, जो रूढ़िवादी को न मानता हो, जिसकी नींव धर्म और विज्ञान पर टिकी हो। आधुनिकता का सम्बन्ध उस यथार्थ भाव से है, जो मानवीय मूल्यों पर आधारित हो तथा उसका लक्ष्य सकारात्मक और रचनात्मक हो।'

आधुनिक यंत्र और आधुनिकता

किसी समय गणित, सारणी आदि के कार्य खातों में किए जाते थे। वर्तमान समय में वे सारे कार्य कम्प्यूटर के माध्यम से हो जाते हैं। यदि कोई वर्तमान समय में भी यह कहे कि वह बही-खातों में ही हिसाब रखेगा, तो वह सचमुच आधुनिक नहीं कहा जाएगा तथा कम्प्यूटर के माध्यम से करने पर वह आधुनिक लग सकता है। परन्तु क्या आधुनिक यंत्रों का उपयोग करना ही आधुनिकता है? एक व्यक्ति बहुत बड़े फाइव स्टार होटल में आधुनिक लैपटॉप पर कार्य कर रहा है। पर उसकी दिनचर्या बिल्ली के रास्ता काटने पर बदल जाती हो, तो क्या उसे आधुनिक कहा जा सकता है? इस प्रकार यंत्र के प्रयोग से नहीं बल्कि व्यक्ति के विचार उसे आधुनिक बनाते हैं।

यंत्रों की आपाधापी में मोबाइल के प्रयोग से समाज हलचल में है। कुछ लोगों का मत है कि मोबाइल आदि आधुनिक यंत्रों के कारण आज समाज में नैतिकता का पतन हो रहा है। युवावर्ग अश्लील वीडियो, सोशल मीडिया आदि में अनावश्यक रूप से समय देकर अपने भविष्य को नष्ट कर रहा है। पुराने जमाने में बच्चे अपने दादा-दादी से कहानियाँ सुनकर और नाटक देखकर अपना मनोरंजन किया करते थे, साथ ही साथ उन्हें नैतिक शिक्षा भी मिलती थी। परन्तु वर्तमान समय में आधुनिक यंत्रों के कारण बच्चे मोबाइल, वीडियो गेम, टीवी आदि के द्वारा मनोरंजन के अभ्यस्त होते जा रहे हैं, जिसके कारण नैतिक शिक्षा का अभाव होता जा रहा है। अश्लील फिल्मों को घरों और सिनेमा घरों में धड़ल्लों से देखा जा रहा है। तो क्या दोष यंत्रों का है? नहीं, क्योंकि कुछ लोग ऐसे भी हैं जो आधुनिक यंत्रों की सहायता से धार्मिक सीरियल, भजन, कीर्तन आदि देखते-सुनते हैं। जो व्यक्ति दूर-दराज में रहते हैं, वे दुर्लभ प्रवचनों का आनन्द लेते हैं। जो विद्यार्थी धन के अभाव में ट्यूशन पढ़ने में असमर्थ होते हैं अथवा जिनके विद्यालयों में शिक्षकों का अभाव होता है, वे आधुनिक यंत्रों की सहायता से पढ़ाई करते हैं। ग्रामीण व्यक्ति भी आधुनिक यंत्रों के प्रयोग के द्वारा कृषि कार्य करते हैं। इस प्रकार वर्तमान समस्या यंत्र की यंत्रणा नहीं है, वरन् मानव में संस्कार का अभाव है। जिस प्रकार हम छोटे बच्चों को जल जाने के भय से आग के साथ स्वतंत्रतापूर्वक खेलने नहीं देते, परन्तु समझदार हो जाने पर उन्हीं बच्चों को आग के द्वारा कार्य करना सिखाया जाता है। उसी प्रकार हमें भी बच्चों को नैतिक शिक्षा देकर परिपक्व बनाना होगा, हमें उनमें मानवता के गुण विकसित करने होंगे; जिससे वे इन यंत्रों का सदुपयोग कर सकें। यदि माता-पिता ही इन यंत्रों का दुरुपयोग करेंगे, तो बच्चे भी वैसा ही सीख जाएँगे। इसलिए उन्हें भी सावधानी बरतनी चाहिए।

परम्परा और आधुनिकता

कुछ प्रथाएँ समाज के लिए उपयोगी होती हैं, जिसके कारण वे पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रहती हैं। इस प्रकार एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में प्रथाओं के हस्तान्तरण द्वारा परम्पराओं का सृजन होता है। इस प्रकार समाज में परम्पराओं का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। परन्तु समय के साथ परिस्थितियाँ भी बदलती रहती हैं। तब इन परम्पराओं में परिवर्तन की भी आवश्यकता होती है। अब प्रश्न यह आता है कि किन प्रथाओं को बदलना चाहिए और किन्हें नहीं। जो परम्परावादी होते हैं, वे किसी भी प्रकार के परिवर्तन का विरोध करते हैं, चाहे वह रूढ़िवाद ही क्यों न हो। वहीं परिवर्तनवादी, मुख्यत: युवावर्ग परिवर्तन के इतने पक्षधर होते हैं कि वे परिवर्तन चाहते हैं, चाहे वह हानिकारक ही

क्यों न हो। परन्तु हमें परिवर्तन और परम्पराओं के पीछे का उद्देश्य देखना चाहिए। यदि वह समाज के लिए उपयोगी हो, तो वह परिवर्तन अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा नहीं।

वहीं अपनी संस्कृति को छोड़कर दूसरों की संस्कृति को ग्रहण करना बुद्धिमत्ता का लक्षण नहीं है। स्वामी विवेकानन्द जी कहते हैं, 'आहार, पोशाक और जातीय आचार-व्यवहार का परित्याग करने पर, धीरे-धीरे राष्ट्रीयता लुप्त हो जाती है। विद्या सभी से सीखी जा सकती है, परन्तु जिस विद्या से राष्ट्रीयता का लोप होता है, उससे उन्नति नहीं होती, अध:पतन ही होता है।''[२] ''जापान में तुम पाओगे कि उन्होंने दूसरों से जो सीखा है, उसे आत्मसात् कर अपना बना लिया है, पचा लिया है। हमने जो विदेशियों से सीखा, उसे हम पचा नहीं पाए। उन्होंने यूरोपवासियों की हर चीज ग्रहण की, पर वे जापानी ही बने रहे, यूरोपीय नहीं बने, पर हमारे यहाँ तो पाश्चात्य ढंग से रहने का एक संक्रामक रोग पैदा हो गया है।''[३]

जपेसा नामक एक युवक रामकृष्ण मिशन में दान के लिए आया था। जब उसने देखा कि वहाँ के साधु आधुनिक कम्प्यूटर और मोबाइल का प्रयोग कर रहे हैं, तब उसने वहाँ के एक संन्यासी से पूछा कि आप लोग इतने आधुनिक मोबाइल, कम्प्यूटर और गाड़ियों का प्रयोग करते हैं। फिर भी वही पुराने ढंग से धोती पहनते हैं, शर्ट-पैंट क्यों नहीं? तब संन्यासी ने उत्तर दिया कि धोती पहनना हमारी संस्कृति है और हमें अपनी संस्कृति पर गर्व है। भला हम इसे क्यों छोड़ें? परन्तु कम्प्यूटर और मोबाइल आदि आधुनिक यंत्र हैं, जो विज्ञान की देन है, हमें पाश्चात्य से विज्ञान लेना है, धर्म या संस्कृति नहीं। समय और परिस्थितियों के अनुसार अपने राष्ट्रीय नींव को बिना हिलाए जो परिवर्तन आवश्यक हो, उसे करना ही आधुनिकता है। किसी का अनुकरण करके न तो कभी कोई आधुनिक बना था, न ही बन सकेगा। अत: हमें इसी प्रकार परम्परा और आधुनिकता का समन्वय करना होगा, जिससे ऐसे समाज का निर्माण होगा जो स्वस्थ भी होगा और आधुनिक भी।

आधुनिकता और पाश्चात्य अन्धानुकरण

अलवर के महाराजा मंगल सिंह ने अँग्रेजी शिक्षा प्राप्त की थी और दिन-रात वे साहबों के साथ खाना खाकर शिकार करने निकल जाते थे। उनके हावभाव चाल-चलन अँग्रेजों की भाँति थे। एक बार उनके राज्य में स्वामी विवेकानन्द जी पधारे। दीवान के कहने पर महाराजा अलवर स्वामीजी से मिलने गए और उन्होंने व्यंग्य करते हुए स्वामीजी से पूछा, अच्छा बाबाजी महाराज, यह जो सारे लोग मूर्तिपूजा करते हैं, उसमें मेरा बिल्कुल विश्वास नहीं है, तब मेरी क्या दशा होगी? इतना कहकर महाराजा ने थोड़ा मृदुहास्य भी किया। इधर-उधर देखने पर दीवार पर टंगी अलवर के महाराजा की एक तस्वीर पर स्वामीजी की दृष्टि पड़ी। उन्होंने उसे किसी व्यक्ति से उतरवाकर अपने हाथ में लेकर पूछा, 'यह किसकी तस्वीर है? दीवानजी ने उत्तर दिया, 'यह हम लोगों के महाराजा की तस्वीर है।' तस्वीर का परिचय लेकर स्वामीजी ने जब दीवानजी से कहा, 'इस पर थूक दीजिए।' तब सभी भयभीत हो गए। स्वामीजी कहने लगे, 'आप लोगों में से कोई भी इस पर थूक सकते हैं; कागज के अतिरिक्त यह और कुछ नहीं है? ऐसा करने में आप लोगों को आपत्ति क्या है? सभी स्वामीजी की ओर देखने लगे। किसी को आगे नहीं बढ़ते देख स्वामीजी बार-बार कहने लगे, 'फेंकिए, इस पर थूक फेंकिए!' अन्त में किंकर्तव्यविमूढ़ दीवानजी ने कहा, 'क्या कहते हैं, स्वामीजी! यह हमारे महाराज की प्रतिमूर्ति है! ऐसा कार्य हम लोग कैसे कर सकते हैं?' इसके बाद महाराजा मंगल सिंह की ओर मुड़कर स्वामीजी ने कहा, 'देखिए महाराज, एक दृष्टि से यद्यपि आप यह चित्र नहीं

हैं, तथापि दूसरी दृष्टि से यह आप ही हैं। इसी से मैंने जब इन लोगों से थूकने को कहा, तब आपके एकान्त अनुरागी कर्मचारीगण हतप्रभ हो गए थे। इसमें आपका प्रतिबिंब है। यह उनके मन में आपको ला बिठाता है। जो भक्त पत्थर या धातु से बनी प्रतिमा के देवी-देवताओं की पूजा करते हैं, उन लोगों के सम्बन्ध में ठीक यही बात होती है। भगवान

की प्रतिमा भक्तों को इष्ट के ऐश्वर्य की महिमा का स्मरण करा देती है, उन लोगों की ध्यान-धारणा में सहायक होती है। वे लोग तो इस पत्थर या धातु की पूजा नहीं करते हैं। मैं कई जगहों पर गया हूँ, परन्तु कहीं भी, किसी को भी यह कहकर प्रतिमा की पूजा करते नहीं देखा कि हे पत्थर, मैं तुम्हारी पूजा करता हूँ। हे धातु, तुम मुझ पर कृपा करो। सभी केवल उसी अद्वितीय चैतन्य स्वरूप परमात्मा की पूजा करते हैं।'[४] इस प्रकार स्वयं को आधुनिक समझने वाले अलवर के महाराज को स्वामी विवेकानन्द जी ने वास्तविकता का परिचय दिलाया। कभी-कभी ऐसा होता है कि हम अपनी भ्रान्त धारणाओं को भी आधुनिकता का नाम देकर उसका प्रदर्शन करते हैं, अत: वास्तविकता को न जानना परन्तु स्वयं को ज्ञानी समझना आधुनिकता नहीं होती। आधुनिक विचारों के माध्यम से व्यक्ति आधुनिक बनता है, अंधानुकरण के द्वारा नहीं। हमें अपनी परम्परा और संस्कृति का ज्ञान होना भी आवश्यक है तथा कोई विशेष परिवर्तन, निन्दा अथवा विरोध करने से पूर्व उसकी जाँच-पड़ताल कर लेनी चाहिए।

स्वामी विवेकानन्द जी कहते हैं, 'उतावले मत बनो, किसी दूसरे का अनुकरण करने की चेष्टा मत करो। दूसरे का अनुकरण करना सभ्यता का लक्षण नहीं है; यह महान पाठ हमें याद रखना है। मैं यदि आज ही राजा जैसी पोशाक पहन लूँ, तो क्या इतने ही से मैं राजा बन जाऊँगा? शेर की खाल ओढ़कर गधा कभी शेर नहीं बन सकता। अनुकरण करना, हीन और डरपोक की तरह अनुकरण करना कभी उन्नति के पथ पर आगे नहीं बढ़ा सकता। वह तो मनुष्य के अध:पतन का लक्षण है। जब मनुष्य स्वयं से घृणा करने लग जाता है, तब समझना चाहिए कि उस पर अंतिम चोट पड़ चुकी है। जब वह अपने पूर्वजों का स्मरण करके लज्जित होता है, तो समझ लो कि उसका विनाश निकट है।'[५]

अन्धविश्वास या रूढ़िवाद

एक आश्रम में गुरु अपने शिष्यों के साथ यज्ञ किया करते थे। यज्ञ के बीच में एक बिल्ली यज्ञ के लिए रखे घी को जूठा कर देती थी, जिससे यज्ञ को वहीं पर बन्द करना पड़ जाता था। अत: गुरु ने शिष्यों को निर्देश दिया कि सर्वप्रथम वृक्ष के नीचे उस बिल्ली को बाँध दिया जाएगा उसके पश्चात यज्ञ प्रारम्भ किया जाएगा। वर्षों पश्चात् गुरु का स्वर्गवास हो जाता है तथा बिल्ली की भी मृत्यु हो जाती है। इसके पश्चात् शिष्य यज्ञ करने लगते हैं। यज्ञ से पहले बिल्ली न मिलने के कारण वे दूसरे गाँव जाकर बिल्ली ले आते और उसी वृक्ष के नीचे बाँधकर यज्ञ प्रारम्भ करते थे। वास्तव में किसी विशेष कारणों से कभी कुछ नियम बनाए जाते हैं, परन्तु उसका यथार्थ मर्म न जानने के कारण कुछ रूढ़िवादी परम्पराएँ प्रारम्भ हो जाती हैं। कभी-कभी सत्ता में रहनेवाले व्यक्ति अथवा पुरोहित आदि अपने स्वार्थ के लिए कुछ निर्देश देकर लोगों को भयभीत कर देते हैं, जिससे एक रूढ़िवादी अथवा अन्धविश्वासी प्रथा प्रारम्भ हो जाती है।

कभी-कभी कुछ परम्पराएँ वैज्ञानिक कारणों से प्रारम्भ तो होती हैं, परन्तु परवर्ती समय में अगली पीढ़ी में उन वैज्ञानिक कारणों के हस्तांतरित न होने पर धीरे-धीरे उन परम्पराओं को भी अन्धविश्वास की संज्ञा दे दी जाती है। जैसे भारतीय परम्परा में जीवित व्यक्ति सोने के समय अपना सिर उत्तर दिशा में नहीं रखते। कुछ लोग इसे रूढ़िवाद कहा करते थे। परन्तु विज्ञान के शोध कार्यों के उपरांत यह सिद्ध हो गया है कि पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण बल और मनुष्य के शरीर का गुरुत्वाकर्षण बल दोनों कार्य करते हैं। यदि दोनों उत्तर दिशा की ओर रहें, तो उत्तर की ओर से प्रतिकर्षण बल कार्य करता है। जिससे अच्छी नींद नहीं आती और मानसिक समस्याएँ होती हैं। वहीं अन्य किसी दिशा में सिर रखकर सोने से अच्छी नींद आती है। इस प्रकार परम्परा या प्रथाओं के रूढ़िवाद या विज्ञान सम्मत तथ्यों को हमें जानना और समझना होगा, यही श्रेष्ठ आधुनिकता है।

स्वामी विवेकानन्द जी अन्धविश्वास पर आघात करते हुए कहते हैं,'तुम्हारी तो देश से बाहर निकलते ही जाति चली जाएगी! अपनी खोपड़ी में वर्षों के अंधविश्वास का निरन्तर वृद्धिगत कूड़ा-करकट भरे बैठे, सैकड़ों वर्षों से केवल आहार की छुआछूत के विवाद में ही अपनी सारी शक्ति नष्ट करनेवाले, युगों के सामाजिक अत्याचार से अपनी सारी मानवता का गला घोंटनेवाले, भला बताओ तो सही, तुम कौन हो? और तुम इस समय कर ही क्या रहे हो? ... पुस्तकें हाथ मे लिए तुम केवल समुद्र के किनारे घूम रहे हो, यूरोपियनों के मस्तिष्क में निकली हुई इधर-उधर की बातों को लेकर बेसमझे दुहरा रहे हो।'[६] 'तुममें से प्रत्येक व्यक्ति अन्धविश्वासी मूर्ख होने की जगह, यदि घोर नास्तिक हो, तो वह मुझे पसन्द होगा, क्योंकि नास्तिक तो जीवन्त है, तुम उसे किसी प्रकार परिवर्तित कर सकते हो। परन्तु यदि अन्धविश्वास घुस जाए, तो मस्तिष्क बिगड़ जाएगा, दुर्बल

हो जाएगा और व्यक्ति विनाश की ओर अग्रसर होने लगेगा। अत: इन दो संकटों से बचो।'[७]

पीढ़ी अन्तराल (जनरेशन गैप)

जयतु अपने दादाजी से कह रहा था कि दादाजी आप जो यह तिलक लगाते हैं और प्रतिदिन दिये जलाकर पूजा करते हैं, इन सब में बहुत खर्च होता है। यदि इस खर्च को हम किसी गरीब की सहायता में लगाएँ, तो यह अच्छा होगा। तभी दादाजी ने जयतु को तत्काल उत्तर देते हुए कहा - हाँ बेटा! तुम लोग इंटरनेट का पैक भरवाकर जो अनर्गल वीडियो देखते हो, अनावश्यक तस्वीरों और तथ्यों को एक-दूसरे को भेजते रहते हो, उसकी जगह यदि उन पैसों से हम किसी गरीब की सहायता कर सकते, तो अच्छा होता। जयतु चुप हो गया। दादाजी ने पुन: कहा - बच्चों तुम लोगों को आधुनिकता के नाम पर सिर्फ धर्म में ही बुराई नजर आती है। तुम लोग समाज में जो गंदगी फैलाते हो, उसे बंद करके यदि कुछ अच्छा करने की सोचते, तो मैं तुम लोगों को सच में आधुनिक कहता।

नक्षत्र नामक युवक आज अपने मित्रों के साथ व्यापार के कार्य से कहीं जानेवाला था। पर सुबह-सुबह घर में एक काँच के टूट जाने से उसकी माँ ने उसे जाने से मना कर दिया। नक्षत्र ने अपनी माँ को बहुत समझाया कि काँच टूटने वाली चीज है और वह टूटेगी ही। इस प्रकार अशुभ होने की सम्भावना से यदि वह नहीं जाएगा, तो उसे व्यवसाय में हानि होगी। अब इससे अशुभ और क्या हो सकता है? पर उसकी माँ ने उसकी एक न सुनी।

सम्भवत: ऐसी खींचातानी लगभग सभी परिवारों में देखने को आती है। सभी अपने विचारों को ही श्रेष्ठ मानते हैं और दूसरों पर थोपने का प्रयास करते हैं, परन्तु आवश्यकता है सामंजस्य की। आज समाज को नैतिक, धार्मिक और सभ्यता की शिक्षा के साथ-साथ विज्ञान के सामंजस्य की भी आवश्यकता है।

स्वामी विवेकानन्द और आधुनिकता

वर्तमान समय में स्वामी विवेकानन्दजी के उपदेश प्रासंगिक और आधुनिक हैं। वे आधुनिक समाज के आचार्य हैं, जिन्होंने आधुनिकता को नई गति प्रदान की। उन दिनों समुद्र पार करके कहीं जाना पाप समझा जाता था, ऐसे समय में स्वामीजी स्वयं समुद्र पार करके अमेरिका गए थे। उन्होंने पाश्चात्य का अनुकरण करनेवाले पढ़े-लिखे लोगों के ढंग की भर्त्सना तो की ही, साथ ही साथ भारत के अन्धविश्वास और कुसंस्कारों पर भी कटाक्ष किया।

स्वामी विवेकानन्दजी कहते हैं, 'मुझे बड़े दुख से कहना पड़ता है कि आजकल हम पाश्चात्य भावनाओं से अनुप्राणित लोगों के जितने उदाहरण पाते हैं, वे अधिकांश असफलता के हैं, इस समय भारत में हमारे मार्ग में दो बड़ी रुकावटें हैं, एक ओर तो है हमारा प्राचीन हिन्दू समाज और दूसरी ओर वर्तमान यूरोपीय सभ्यता। इन दोनों में यदि कोई मुझसे एक को पसन्द करने के लिए कहे, तो मैं प्राचीन हिन्दू समाज को ही पसन्द करूँगा, क्योंकि, यज्ञ होने पर भी, अपरिपक्व होने पर भी, कट्टर हिन्दुओं के हृदय मे एक विश्वास है, एक बल है, जिससे वह अपने पैरों पर खड़ा हो सकता है। किन्तु विदेशी रंग में रंगा व्यक्ति सर्वथा मेरुदण्डविहीन होता है, वह इधर-उधर के विभिन्न स्रोतों से वैसे ही एकत्र किए हुए अपरिपक्व, विशृँखल, बेमेल भावों की असंतुलित राशि मात्र है। वह अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो सकता, उसका सिर हमेशा चक्कर खाया करता है।... प्राचीन पथ के पथिकगण कट्टर होने के बावजूद मनुष्य थे, उन सभी लोगों में एक दृढ़ता थी। अब भी इन लोगों में कुछ आदर्श पुरुषों के उदाहरण हैं।'[८] 'आज आवश्यकता है, विदेशी नियंत्रण हटाकर, हमारे विविध शास्त्रों, विद्याओं का अध्ययन हो, और साथ-साथ अँग्रेजी भाषा और पाश्चात्य विज्ञान भी सीखा जाए। हमें उद्योग-धंधों की उन्नति के लिए यांत्रिक-शिक्षा भी प्राप्त करनी होगी, जिससे देश के युवक नौकरी ढूँढ़ने के बजाय अपनी जीविका के लिए समुचित धनोपार्जन भी कर सकें और दुर्दिन के लिए कुछ बचा भी सकें।'[९] 'इसलिए हमारा आदर्श यह होना चाहिए कि अपने देश की समग्र आध्यात्मिक तथा लौकिक शिक्षा के प्रचार का भार अपने हाथों में ले लें और जहाँ तक सम्भव हो, राष्ट्रीय रीति से राष्ट्रीय सिद्धान्तों के आधार पर शिक्षा का विस्तार करें।'[१०] ○○○

सन्दर्भ सूची – १. बृहदारण्यक उपनिषद १.३.२७, **२.** विवेकानन्द साहित्य ६/२३३-३४, **३.** वही, ८/२३४, **४.** युगनायक विवेकानन्द, खंड १/ २६२-२६४, **५.** विवेकानन्द साहित्य ५/२७२, **६.** वही, १/३९८-९९, **७.** वही,५/१७२, **८.** वही, ५/४७, **९.** वही, ८/२३१, **१०.** वही, ५/१९५.

सारगाछी की स्मृतियाँ (८९)

स्वामी सुहितानन्द

(स्वामी सुहितानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के उपाध्यक्ष हैं। महाराजजी जगजननी श्रीमाँ सारदा देवी के शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज के अनन्य निष्ठावान सेवक थे। उन्होंने समय-समय पर महाराजजी के साथ हुए वार्तालापों के कुछ अंश अपनी डायरी में गोपनीय ढंग से लिखकर रखा था, जो साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी है। 'उद्बोधन' बँगला मासिक पत्रिका में यह मई-२०१२ से अनवरत प्रकाशित हो रहा है। पूज्य उपाध्यक्ष महाराज की अनुमति से इसका अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द और वाराणसी के रामकुमार गौड़ ने किया है, जिसे 'विवेक-ज्योति' में क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – सं.)

प्रश्न – 'बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते' – क्या बुद्धिमान के लिए खराब कर्म करना सम्भव है?

महाराज – यदि कभी कुछ हो भी जाय, तो उससे उसकी देह ही प्रभावित होती है, मन नहीं होता। इसलिए खराब कर्म का फल भी शरीर को ही प्रभावित करेगा, उसके मन को प्रभावित नहीं कर पाएगा। तब वह 'नैव किंचित् करोमीति' भाव में विचरण करेगा। 'यदा स्थास्यति निश्चला' – यहाँ समाधि का अर्थ है ईश्वरचिन्तन। निश्चला भक्ति यदि ठाकुर के ऊपर नहीं रहे, तो वह व्यक्ति इधर-उधर घूमता रहता है, जैसे चन्दा वसूलने और मन्दिर-निर्माण में व्यस्त रहता है। 'अप्रमेय' – वस्तु को जिस प्रकार जाना जाता है, उस प्रकार आत्मा को नहीं जाना जा सकता, आत्मा तो ज्ञाता है। इसीलिए यह अप्रमेय है, किसी भी उपाय से इसका मापन, इसकी धारणा नहीं की जा सकती।

स्वामी प्रेमेशानन्द

'सर्वश:' – नाग महाशय के जीवन में कभी भी, किसी भी दिन अच्छी चीजें खाने का लोभ नहीं हुआ। हम लोगों को तो समय-समय पर इच्छा होती है कि थोड़ा कुछ खाएँ। इसीलिए तो कहा जाता है कि साधु को दिन में देखना, रात में देखना।

५-७-१९६२

प्रश्न – महाराज, अपने संघजीवन के प्रारम्भिक दिनों की कुछ बातें बताइए?

महाराज – मैं स्वयं तो दर्शन के विरुद्ध बोलता हूँ, किन्तु मैंने आँखों से जो देखा है, उसे कभी भी नहीं भूलूँगा। गोलाप माँ को पहली बार देखा – हाथ में झाड़ू, अस्त-व्यस्त बिखरे हुए केश, घर की धूल साफ कर रही हैं। गणेन महाराज से पूछा कि प्रणाम करूँ या नहीं? गणेन महाराज ने कहा, "वे तो शीतला होकर झाड़ू लेकर रह रही हैं।" एक दिन देखा कि योगीन माँ शरत् महाराज के पास आसन लगाकर बैठी हैं। गौरी माँ को उनके आश्रम में देखा था – दाँत नहीं है, मस्तक पर सिन्दूर का टीका है। योगीन महाराज की पत्नी को एक दिन मठ में देखा। स्पष्ट रूप से याद है – देवीमूर्ति थीं! ठीक मानो मेरी घर की माँ हों।

विरजानन्द स्वामी उस समय सचिव थे, साधनानन्द के तपस्या से लौटते ही उन्हें ढाका का महन्त बनाकर मुझे मठ ले गए। मेरे मठ में प्रवेश करते ही मुझे जल्दी से बैठाकर उन्होंने मुझे कुछ खाने को दिया और कहने लगे, "तुम्हें क्या कष्ट हुआ है! इसीलिए तो किसी को भेज नहीं सका।" मानो कितने दुखित हो रहे हों! हाथ धोने के लिए बाहर जा रहा था, तो बोले कि वहीं धो लो, मैं तो उनके प्रेम से द्रवित हो गया। उन लोगों के सब काम ऐसे ही थे। वे लोग ठाकुर को सामने रखकर चलते थे न!

वहीं देखा कि कोई-कोई साधु-सेवकों को दूर ही रखते थे। वे लोग ठाकुर के निकट आए हैं, महन्त ही तो ठाकुर के प्रतिनिधि हैं, नवागत ब्रह्मचारियों का सब दायित्व तो महन्त का होता है। हम लोग तो साधु हैं, हम लोगों का तो कुछ भी नहीं है, एक प्रेम का ही सम्बल है, उसी के द्वारा संसार चलाना होता है। आजकल तो बहुत पैसा हो गया है, पैसे द्वारा भी प्रेम दिखाया जा सकता है, किन्तु पता नहीं कैसे, मानो सब अस्तव्यस्त हो गया है!

७-७-१९६२

महाराज – समाज में आदर्श ठीक नहीं रहने से लोगों का विनाश निश्चित है। ब्राह्मण, संन्यासी को एक ऐसे

अनुशासन में रहना चाहिए, जहाँ थोड़ा भी इधर-उधर करने की स्थिति न रहे। इसीलिए तो गीता में बार-बार कार्य की सुचारुता की ओर जोर देते हुए भगवान ने कहा है – तुम्हारे अपने लिए तो है ही, लोक-शिक्षा के लिये भी तुम्हें सत्पथ पर अच्छी तरह से चलना होगा। हमारे साधारण जीवन में ही देखो न, हमलोग इस प्रकार, ऐसे परिवेश में रहते हैं, इतने गृहस्थों के साथ मिलना-जुलना होता है कि संन्यास-भाव को हर समय बचाकर रखना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

माँ ऐश्वर्य-विशेष, नहीं दिखाती हैं। ऐश्वर्य तो उनका आभूषण है, वे ऐश्वर्य नहीं हैं। जो ऐश्वर्य देखना चाहता है, वह माँ को नहीं चाहता। साधारण मनुष्य ऐश्वर्य को देखकर उन्हें भूल जाता, इसीलिए वे बिल्कुल गरीब, साधारण ग्राम की विधवा ब्राह्मणी के वेश में केवल 'माँ' का रूप लेकर आई हैं, जिससे सभी लोग एक प्रकार का आकर्षण अनुभव कर सकें, जिसके प्रभाव से सभी लोग संसार से निकलकर मुक्त हो सकेंगे।

कोलकाता के अस्पताल में

लगभग अगस्त मास में अचानक महाराज के सिर में प्रचण्ड पीड़ा, छाती में दर्द होने लगा। महाराज को बहरमपुर शहर में ले जाने की बात हुई। आश्रम के अध्यक्ष सुखदानन्द महाराज और उनके सहायक अनामयानन्द महाराज ने सारी व्यवस्था की। महाराज के नेत्रों की प्रचंड पीड़ा के निवारणार्थ कोलकाता से एक चिकित्सक को लाया गया। उन्होंने कहा – आँखों में ग्लूकोमा है और लगता है, एक आँख की रोशनी चली गई है। उसी रात बेलूड़ मठ से सम्पर्क करके महाराज को कोलकाता ले जाया गया। पूजनीय भरत महाराज की तत्परता से कोलकाता के मेडिकल कॉलेज के एक केबिन में महाराज के रहने की व्यवस्था हुई। उपचार से नेत्रों की पीड़ा कम हुई, किन्तु आँखें सुन्न हो गईं। महाराज को खुजली से अधिक कष्ट था, पेशाब करने में कष्ट था, सब मिलकर एक हृदयविदारक चित्र समुपस्थित हो गया और एक परेशानी दिखने लगी – धीरे-धीरे गले की आवाज क्षीणतर होने लगी।

एक दिन सुनाई पड़ा कि संघगुरु माधवानन्दजी महाराज आ रहे हैं। प्रेमेश महाराज को समाचार दिया गया। वे अधीर हो उठे, कब आएँगे, कहाँ बैठेंगे, बारबार पूछने लगे। जब आने का समय हुआ, तब उन्होंने उनको लाने के लिए सेवक को जोर करके नीचे भेज दिया। उसको कहा, "तुम मेरी यह नयी चादर ले जाओ, लिफ्ट पर जो स्टूल है, उस पर कितने ही विषयी लोग बैठते हैं, तुम इस चादर को उस स्टूल के ऊपर बिछा देना।" माधवानन्द महाराज आकर कुछ मिनट उनका दर्शन कर चले गए। **(क्रमशः)**

कविता

उसका जीना भी क्या जीना

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

उसका जीना भी क्या जीना, जो जीता मन मार रे !
मानव-जीवन परमेश्वर का अति दुर्लभ उपहार रे
यह मानव-तन भाग्यभूमि पर
एक दिव्य उद्यान है,
जो जन मन का सुमन खिला ले,
मानव वही महान है,
पुरुषार्थी का ही मन रहता जग में सदाबहार रे !
उसका जीना भी क्या जीना, जो जीता मन मार रे !
मन के हारे हार यहाँ है,
मन के जीते जीत है,
सदा सुपथ पर चलने वाला
मन ही सच्चा मीत है,
उन्नत मन से देवलोक के भी खुल जाते द्वार रे!
उसका जीना भी क्या जीना, जो जीता मन मार रे !
जैसा, मन, वैसा ही जीवन,
बन जाता संसार में,
हारे मन की जीवन-नौका,
घिर जाती मझधार में,
लोक और परलोक सभी का मन ही है आधार रे !
उसका जीना भी क्या जीना, जो जीता मन मार रे !!
सदा सत्य-शिव-सुन्दर मन का
जिसमें भी उल्लास है,
उसका ही इस धराधाम पर
सच्चा हुआ विकास है,
क्यों न करे 'मधुरेश' सदा तू, अपने मन से प्यार रे!
उसका जीना भी क्या जीना, जो जीता मन मार रे!!

प्रेरक लघुकथा

वेश–भूषा का प्रभाव

डॉ. शरद चन्द्र पेंढारकर

मराठी की प्रारम्भिक फिल्मों में से एक 'संत तुकाराम' में केन्द्रीय भूमिका विष्णुपंत पागनीस नामक एक कलाकार ने निभाई थी। एक दिन वे संत गोंदवलेकर महाराज के पास गए। तब संत ने कहा, ''आजकल तुम्हारी फिल्म की जीवन्त भूमिका की खूब प्रशंसा हो रही है। फिल्म में काम करने से तुम्हें कौन-सी शिक्षा मिली?'' विष्णुपंत के समझ में कुछ नहीं आया कि संत क्या पूछ रहे हैं। तब संत ने कहा, ''लगता है मेरे कहने का आशय तुम समझ नहीं पाए। मैंने तुमसे यह जानना चाहा कि संत तुकाराम की भूमिका करके तुम्हारी जीवन-शैली में क्या कोई परिवर्तन आया?'' पागनीस सोचने की स्थिति में नहीं थे कि क्या जवाब दिया जाए।

तब संत गोंदवलेकर जी ने कहा, ''मैं तुमसे क्या जानना चाहता था, यह बताने के लिये एक कहानी सुनाता हूँ, सुनो – एक बार एक युवक ने राजकन्या को जब देखा, तो वह उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो गया। वह जब घर आया, तो रात को राजकन्या के रूप ने उसका सारा सुख-चैन छीन लिया। रात भर उसे नींद नहीं आई। उसे एक बार फिर देखने के लिए वह लालायित हो गया। उससे रहा न गया और उसने यह बात अपने मित्रों को बताई। मित्रों ने उसे सुझाव दिया कि तुम एक साधु का स्वांग धरो और मन्दिर में ध्यानस्थ बैठ जाओ। हम लोग तेरी धर्म-साधना की खूब प्रशंसा कर मन्दिर में तेरे दर्शन के लिये भीड़ जुटाएँगे। राजकन्या को भी मन्दिर में लाने का प्रयत्न करेंगे। इससे तेरी इच्छा पूरी हो जाएगी।''

युवक को सुझाव पसन्द आया। उसने गेरुए वस्त्र पहनकर नकली मूँछें-दाढ़ी लगाकर एवं माथे पर भभूत का टीका लगाकर एक मंदिर में डेरा जमा लिया। उसके मित्रों ने भी गेरुए वस्त्र धारणकर शिष्य रूप में गाँव के मन्दिर में पहुँचे हुए महात्मा के आने की बात फैलाई। लोगों का झुण्ड महात्मा को देखने के लिए उमड़ पड़ा। राजा को पता चला, तो वह भी रानी और राजकन्या को लेकर मन्दिर में आया। तीनों ने प्रणाम किया, फल अर्पित किये और साधु से आशीर्वचन देने की प्रार्थना की। किन्तु साधु का भेष धारण किया हुआ युवक ध्यानस्थ ही रहा। उसने उनकी ओर देखा तक नहीं। राजा ने सोचा कि महात्मा नि:स्पृह हैं, ध्यान में इतने मग्न हैं कि उनके आने की उन्हें आहट न हुई और वह लौट गया।

रात को मित्रों ने युवक को जगाया और पूछा, 'राजकन्या के दर्शन करने की तुझे अत्यन्त लालसा थी। जब वह आई, तो तूने आँखें क्यों नहीं खोली? उसे देखने से तेरी इच्छा पूरी हो जाती। युवक ने उत्तर दिया, ''राजकन्या के आने की आहट होते ही मेरी वृत्ति बदल गई। मन के सारे कुविचार जाते रहे। मन्दिर में मैं किस उद्देश्य से बैठा हूँ, यही मैं भूल गया। मेरा स्वांग-ढोंग, छल-कपट सारा कुण्ठित हो गया। इच्छा-वासना जाती रही और मन निष्कलुष हो गया। मेरे अन्तर्मन ने मुझे झकझोरा – 'तुझे साधुवेश की लाज रखनी है। साधु वेश को तू कलंकित कर रहा है। साधु का वेश धारण करनेवाले को साधु जैसा आचरण करना पड़ता है। साधुओं को शाश्वत आनन्द दिखावे से नहीं, अच्छे आचार-विचारों और निष्काम कर्मों से मिलता है।' अब मैंने पूर्वजीवन को तिलांजलि देने का निश्चय किया है। मैं जान गया कि आसक्ति मनुष्य को पाप के गर्त में डालने का काम करती है। मैं अब किसी संत के आश्रय में रहकर निरासक्त एवं निष्काम जीवन बिताना चाहूँगा। धर्म-साधना मुझे इस लोक में और परलोक में सुख-शान्ति प्रदान करेगी।'' पागनीस ने संत से कहा, ''मैंने संत तुकाराम की भूमिका अपना शौक पूरा करने के उद्देश्य से किया था। अब आपने मुझे सही जीवन जीने का मार्ग बताया है। इसी मार्ग पर जाकर मैं शेष जीवन व्यतीत करूँगा।''

व्यक्ति त्याग रहित जीवन जीने का आंडबर तो रचता है, लेकिन बाद में उसका अन्तर्मन उसे नैतिक कार्य का बोध कराता है। वह जान जाता है कि वासनाजनित कर्म उसे पतन की ओर ले जा रहे हैं। जागरूक होकर वह निष्काम भाव से भक्ति-मार्ग की ओर चल पड़ता है। ○○○

नि:स्वार्थता अधिक लाभदायक है, किन्तु लोगों में उसका अभ्यास करने का धैर्य नहीं है। – स्वामी विवेकानन्द

मेरे जीवन की कुछ स्मृतियाँ (२९)

स्वामी अखण्डानन्द

(स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज श्रीरामकृष्ण देव के शिष्य थे। परिव्राजक के रूप में उन्होंने हिमालय इत्यादि भारत के कई क्षेत्रों के अलावा तत्कालीन दुर्लंघ्य माने जाने वाले तिब्बत की यात्राएँ भी की थीं। उनके यात्रा-वृत्तान्त तथा अन्य संस्मरण बंगला पुस्तक 'स्मृति कथा' में प्रकाशित हुए हैं, जिनका अनुवाद विवेक ज्योति के पूर्व सम्पादक स्वामी विदेहात्मानन्द जी ने किया है। – सं.)

प्रथमत: तो, वृन्दावन से लौटने के बाद दक्ष (ज्ञानानन्द) – वराहनगर मठ में ठाकुर की शय्या पर बैठकर उनकी नकल करने गया। इसलिए उसे मठ से निकाल दिया गया। बाद में, वह अपने सम्बन्धी पी. सी. कर और झामापुकुर के कुमार नरेन्द्रनाथ मित्र के घर जाकर ठहरा और (कई तरह के) अत्याचार करने लगा, अत: वे लोग भी उसे अपने पास नहीं रख सके।

वृन्दावन में उसकी घोर उन्मत्त अवस्था में, सभी प्रकार के अत्याचारों को सहन करते हुए मैंने उसकी जो सेवा की थी, उसे वह भूल नहीं सका था। क्योंकि निराश्रय होकर पागल के वेश में वह इधर-उधर रास्तों-घाटों पर घूमता रहता, परन्तु मेरे कलकत्ता आते ही मैं जहाँ कहीं भी रहता, वह दौड़कर चला आता।

बाद में जब मैं आलमबाजार मठ में था, तब वह भी अपेक्षाकृत शान्त भाव से काफी दिन मठ में था। एक रात सुबोधानन्द तथा मैंने उसे भय दिखाते हुए बड़े आनन्द का अनुभव किया था। सबके सो जाने पर भी पागल ज्ञानानन्द को नींद नहीं आती थी। वह रात के करीब एक बजे तक ऊल-जुलूल बकता रहता। मठ में एक दिन जब बाकी सब लोग सोये हुए थे, वह पागल अन्दरवाले मकान की एक खुली छत पर जो भी मन में आता, बकता जा रहा था। वह जिस कमरे में सोता, उसी में हम लोगों की एक मेज थी। सुबोधानन्द एक काला कम्बल लपेटकर उसी मेज की बगल में बैठ गये। पास के कमरे में, एक लालटेन की रौशनी को घटाकर मैं भी बैठा रहा। इसी प्रकार करीब घण्टे भर बैठे रहने के बाद, वह पागल कमरे में घुसा। तत्काल सुबोधानन्द दोनों हाथ ऊपर उठाकर नृत्य करने लगे, जिसे देख पागल ज्ञानानन्द का गला ही सूख गया। उसकी खाट पर एक टूटा हुआ हाथ-पंखा पड़ा था। उसने उसी को उठा लिया और 'हाफिज-हाफिज' कहकर चिल्लाने लगा। इसके बाद जब हम दोनों हँस पड़े, तो वह काठ के समान जड़ होकर बैठ गया। अगले दिन सुबह उसने मठ के सभी भाइयों को बताया, "जन्म भर मैं कभी इतना भयभीत नहीं हुआ। इन लोगों ने तो मेरी जान ही निकाल दी थी।"

स्वामी अखण्डानन्द

वह मुझसे इतना प्रेम करता था कि सारगाछी में आकर उसने मेरे साथ आश्रम-भवन में एक महीना निवास किया था। सारगाछी आश्रम के उसी भवन से, एक दिन एक सँपेरे ने एक भयानक नाग को पकड़ा और उसका प्रदर्शन कर रहा था। साँप अपना फन उठाकर भयंकर रूप से फुफकार रहा था। सब लोग उसे देखकर खूब भयभीत थे। परन्तु ज्ञानानन्द न जाने कहाँ से अचानक ही वहाँ आया और साँप के पिटारे के पास जाकर इशारे के साथ हाथ हिला-हिलाकर कहने लगा, "कैसे हो? कैसे हो?" मैंने उसे धक्का देकर एक किनारे कर दिया।

बड़े खेदपूर्वक बाद में मैंने सुना कि आखिरकार इन ज्ञानानन्द को कलकत्ते के एक फुटपाथ पर मृत अवस्था में पाया गया था।

इंडियन म्यूजियम

कुछ दिन मैं बलराम बाबू के घर में रहकर हर रोज भोजन आदि के बाद लावा (lava), फासिल (fossil) आदि देखने हेतु एशियाटिक सोसायटी (Indian Museum) जाया करता था। इसके बाद मैं सुविख्यात मनीषी, पुरातत्त्वविद् तथा एशियाटिक सोसायटी के संस्थापक, सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश सर विलियम जोन्स, एच. एच. विल्सन, जेम्स प्रिंसेप्स, गोल्ड स्टुकर, कावेल तथा सर अलेग्जेंडर कनिंघम आदि मनीषियों के चित्र देखने 'सोसायटी' के ग्रन्थालय में

जाने लगा। उस ग्रन्थालय में जाकर उपरोक्त मनीषियों के चित्र देखकर मुझे बड़ा आत्मसन्तोष मिलता था।

जयपुर के महाराजा कॉलेज के प्राध्यापक श्री मेघनाद भट्टाचार्य के मुख से, मैंने हाईकोर्ट के वकील डॉक्टर आशुतोष मुखोपाध्याय के गुणों के बारे में और विद्वानों के लिये लोभनीय उनके अद्‌भुत ग्रन्थागार के विषय में भी सुन रखा था। इन दिनों, उनका दर्शन करने की मुझे बड़ी इच्छा हो रही थी।

एक दिन मैं एशियाटिक सोसायटी के ग्रन्थालय में जाकर सब कुछ देख रहा था, तभी देखा – अल्पाका के ऊन से बना हुआ काला चोंगा-चपकन पहने एक सज्जन ने कार्यालय में प्रवेश किया और इसके साथ ही सारे कर्मचारी उठकर खड़े हो गये। उन्होंने कोनिक सेक्संस (Conic Sections) का कोई ग्रन्थ माँगा और एक कर्मचारी तत्काल आलमारी से वह पुस्तक निकाल लाया।

इसी बीच कर्मचारियों से पता चला कि ये ही हाईकोर्ट के सुप्रसिद्ध वकील आशुतोष मुखोपाध्याय हैं। जब वे पुस्तक लेकर बाहर निकलने लगे, उसी समय उनके साथ चलते हुए मैंने उनसे बातचीत की। मैंने कहा, ''आपके गुणों की बात मैंने खूब सुनी है और आज आपको साक्षात् देखकर बड़ा आनन्द हुआ।'' वे बोले, ''आप क्या विवेकानन्द-मठ के हैं?'' मैंने कहा, ''जी हाँ, मैं उसी मठ का हूँ।'' बातचीत के अन्त में मैंने कहा, ''अच्छा महाशय, आप तो महान प्रतिभाशाली और विराट पण्डित हैं; परन्तु आपने क्यों अपने जीवन को स्वदेश की उन्नति के स्थान पर, हाईकोर्ट के एक सामान्य वकील के कार्य में लगा दिया है?'' इस पर वे उत्तेजित तथा क्षुब्ध होकर बोले, ''अगले सौ साल में भी इस देश की कोई उन्नति नहीं हो सकती। हाईकोर्ट में मेरे न्यायाधीश होने की सम्भावना को देखकर देश के एक बड़े नेता अपने अखबार में हर सप्ताह मेरे नाम पर उलटे-सीधे आक्षेप लगाते रहते हैं। जिस देश के नेता लोग अपने ही स्वदेशवासियों की उन्नति के मार्ग में काँटे बिछाते रहते हों, उस देश का कल्याण होना, क्या कभी सम्भव है?'' १८९६ ई. में उनके साथ मेरी केवल इतनी ही बातचीत हुई थी।

उन्हीं दिनों मैं हैवेल साहब के काल में बनी हुई आर्ट-गैलरी देखने जाया करता था। जितना ही मैं विभिन्न स्थानों तथा विभिन्न प्रकार के प्राकृतिक दृश्यों के छोटे-बड़े तैलचित्र देखता, उतना ही उन्हें और भी देखने की इच्छा बढ़ती जाती। हिमालय के सँकरे मार्ग (gorge), नदी, चीड़, देवदार आदि वृक्षों का जंगल देखकर मैं इतना मुग्ध हो जाता था कि लगता मानो मैं उन्हीं स्थानों में पहुँच गया हूँ। हिमालय-भ्रमण के दौरान मैंने जिन विराट तथा मनोरम प्राकृतिक दृश्यों का अवलोकन किया था, उसी तरह के अनेक चित्र उस आर्ट-गैलरी में विद्यमान थे। चिर-तुषार-मण्डित पर्वतों की दृश्यावली के चित्रों को देखकर ऐसा लगता मानो मैं उन्हीं शीत-प्रधान अंचलों में पहुँच गया हूँ, क्षण भर के लिये पूरा शरीर मानो सिहर उठता। किसी-किसी दिन प्रियनाथ सिन्हा भी मेरे साथ रहता। **(क्रमशः)**

पृष्ठ २२३ का शेष भाग

दाढ़ें निकल आयीं। और उसके बाद बच्चे को लेकर अपने दाँतों के बीच चबा चबाकर, काट काटकर बच्चे को निगल रही है। श्रीरामकृष्ण को पहले लगा कि अरे यह मैं क्या देख रहा हूँ? मेरी आँखें यह क्या देख रही हैं? ये कैसा विचित्र दर्शन हुआ! ऐसा घृणित दर्शन! जब वे देखते हैं कि वह कितनी कुरूपा, कुत्सा हो गई, अपने बच्चे को खा रही है, चबा-चबाकर। यहाँ पर प्रभु कहते हैं, उसने दिखा दिया कि यही वह माया शक्ति है। माया शक्ति ने बच्चे को जन्म दिया, बच्चे का पालन-पोषण किया, उसको दूध पिलाया। कितनी स्नेहपूर्ण दृष्टि थी उसकी! परन्तु दूसरे ही क्षण कहाँ गया वह स्नेह? कहाँ गई उसकी वह आसक्ति? कहाँ गया वह मुग्धा भाव? अपने ही बच्चे को खाकर उदरस्थ कर लेती है। यह है योगशक्ति। इस घटना के द्वारा हम श्लोक को समझ सकते हैं। यही प्रभु का ऐश्वर्य है कि वे कहीं किसी से लिप्त या आसक्त नहीं होते हैं। अन्यथा संसार में देखा क्या जाता है? यदि एक कवि कविता को जन्म दे, तो उसका उसके प्रति लगाव हो जाता है, आसक्ति हो जाती है। उस कविता को छोड़ नहीं पाता है, क्योंकि वह उसी की कृति है। जो भी जिसको जन्म देता है, जिसका पालन पोषण करता है, तो उसका लगाव छूटता नहीं है। आसक्ति हो जाती है। पर प्रभु कैसे हैं? उनका ऐसा ऐश्वर्य कि सारे जगत को उपजाकर, सारे जगत का पोषण कर, उसकी धारणा करके कहीं लिप्त नहीं हैं। इससे बढ़कर ऐश्वर्य और क्या हो सकता है? **(क्रमशः)**

आध्यात्मिक जिज्ञासा (५३)

स्वामी भूतेशानन्द

प्रश्न – महाराज! आपलोगों ने ठाकुर के शिष्यों के जीवन में जैसा त्याग-तपस्या देखा है, उस सम्बन्ध में थोड़ा कहिए।

महाराज – ठाकुर के शिष्यों को जब हमलोगों ने देखा था, तब वे लोग वृद्ध थे। उनकी तपस्या या तितिक्षा के समय में तो हमलोगों ने देखा नहीं। किन्तु वे सब बातें उनके मुख से सुनी है। एक समय उनलोगों ने कठोर तपस्या की है, तप करके शरीर-क्षय किया है। उसके बाद अन्तिम अवस्था में उतनी तपस्या नहीं की। सबके कल्याण के लिये शरीर को रखा था। यथासम्भव शरीर का यत्न किया। वह उनलोगों ने अन्तिम (वृद्धावस्था) में किया। तुम लोग यदि अभी से अपने शरीर को बचाकर चलना चाहो, तो शरीर का उपयोग कब करोगे? (ये बातें कदाचित् हमलोगों के लिए कठोर हो गईं, ऐसा सोचकर बोलने के बाद महाराज ने मुस्कुराकर सु-महाराज से पूछा – ऐसा ही है न?)

– जब आप लोगों ने उनलोगों को देखा, तो उनके जीवन में नियम-पालन, सामान्य जीवन यापन के भाव, ये सब निश्चय ही दृष्टिगोचर किया होगा।

महाराज – हाँ, वे लोग बहुत ही साधारण रूप से जीवन-यापन करते थे। जैसे शरत महाराज की जीवन की एक घटना कहता हूँ। वे एक बार तीर्थ करने जा रहे थे। वे तृतीय श्रेणी में यात्रा करते थे। तृतीय श्रेणी का टिकट हुआ है। उस बार इसी गाड़ी से उनकी शिष्या पुटियार की रानी भी जायेंगी। उन लोगों का टिकट प्रथम श्रेणी में था। प्रथम श्रेणी को छोड़कर उनलोगों ने कभी यात्रा नहीं की। अब वे लोग कठिनाई में पड़ गये। वे लोग जाएँगे प्रथम श्रेणी में और उनके गुरुजी जाएँगे तृतीय श्रेणी में। शरत महाराज को बहुत अनुरोध करने पर भी वे प्रथम श्रेणी में जाने के लिए सहमत नहीं हुए। महाराज ने कहा – मैं अपने ढंग से जाऊँगा, तुमलोग अपने ढंग से जाओ।'' अन्त में उनलोगों का सभी टिकट निरस्त कर महाराज के साथ एक इन्टर क्लास कम्पार्टमेंट आरक्षित किया गया। तृतीय श्रेणी से थोड़ा ऊपर था इन्टर क्लास। उसके बाद द्वितीय श्रेणी। हाँ, उन दिनों इन्टर क्लास में भी थोड़ी साधारण गद्दी रहती थी।

– शरत महाराज का चाल-चलन, खाना-पीना कैसा था?

महाराज – खाना-पीना! जब उन लोगों ने भिक्षा माँग कर खाया है, तो कोई उनलोगों को पुलाव-आलूदम बनाकर तो खिलाया नहीं। (सभी हँसते हैं) किन्तु अन्त में भोजन थोड़ा अच्छा हुआ है। अच्छा हुआ, माने कोई आडम्बर नहीं था। थोड़ा-सा अच्छा हुआ। यदि हमलोगों का भोजन तृतीय श्रेणी का हो, तो उनलोगों का इन्टर क्लास का। यही, और क्या?

प्रश्न – महाराज! हमलोगों के जीवन में त्याग-तपस्या का कैसा भाव होना चाहिए?

महाराज – बाह्य कोई आडम्बर नहीं होगा, भीतर में त्याग रहेगा।

– महाराज! त्याग और ईश्वर-अनुराग में कैसा सम्बन्ध है?

महाराज – एक कारण है, दूसरा कार्य है। ईश्वर में अनुराग कारण है और त्याग कार्य है। किन्तु ईश्वर में अनुराग नहीं होने पर भी, हमलोग त्याग करते हैं।

– महाराज! हमलोग त्याग क्यों करेंगे? ईश्वर की ओर आकर्षण नहीं होने से हमलोग विषय-त्याग क्यों करेंगे? हमलोगों के जीवन में ईश्वर के प्रति प्रेम कितना हो रहा है, इसे नहीं जानते हैं, किन्तु त्याग तो हमलोग कर रहे हैं।

महाराज – क्यों त्याग करोगे?

– थोड़ा आवेग और आदर्श-बोध के कारण कर रहे हैं। क्योंकि ज्ञात है कि ईश्वर को प्राप्त करना होगा, इसलिए उस आदर्श को सामने रखकर त्याग को उस आदर्श-प्राप्ति के उपाय के रूप में हमलोग ग्रहण कर रहे हैं। इसी आशा में कि त्याग होने से ईश्वर के प्रति प्रेम होगा।

महाराज – ईश्वर के प्रति प्रेमविहीन त्याग अहंकार को

शेष भाग पृष्ठ २३६ पर

साधुओं के पावन प्रसंग (१७)

स्वामी चेतनानन्द

(स्वामी चेतनानन्द जी महाराज से रामकृष्ण संघ के भक्त भलीभाँति परिचित हैं। वर्तमान में महाराज वेदान्त सोसायटी, सेंट लुइस के मिनिस्टर-इन-चार्ज हैं। उन्होंने श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ सारदा, स्वामी विवेकानन्द और वेदान्त पर अनेक पुस्तकें लिखी और अनुवाद की हैं। प्रस्तुत पुस्तक में रामकृष्ण संघ के महान त्यागी संन्यासियों के संस्मरण हैं, जिनके सम्पर्क में लेखक स्वयं आए थे। 'विवेक ज्योति' के पाठकों हेतु मूल बंगला से इसका हिन्दी अनुवाद धारावाहिक रूप से दिया जा रहा है। – सं.)

इतिहास में धर्म सम्प्रदायों को तीन प्रकार से संचालित होते देखा जाता है : पहला, कोई धार्मिक नेता अपनी आध्यात्मिक शक्ति के बल पर संघ को संचालित करते हैं। दूसरा, कोई नैतिक और चारित्रिक दृढ़ता द्वारा संघ को चलाते हैं। तीसरा, कोई राजनीतिक और बुद्धिमत्ता से नेतृत्व करते हैं। कहा जाता है, ''जो लोग स्वामी गम्भीरानन्द जी महाराज के सान्निध्य में रह चुके हैं, उनलोगों ने देखा है कि वे कभी भी इस तीसरे प्रकार के नहीं थे।'' उन्होंने कभी भी पद-प्रतिष्ठा की इच्छा नहीं की। उनके स्वयं के मुँह से सुना था कि जब वे साधु होने के लिए आये थे, तब पहले-पहल उनको स्वीकार नहीं किया गया था। गम्भीर महाराज बाद में देवघर केन्द्र के स्कूल शिक्षक, प्रधानाध्यापक तथा परवर्ती काल में इस केन्द्र के सचिव भी हुए थे। मायावती में वे १९४२ से १९४४ तक 'प्रबुद्ध भारत' के सम्पादक थे। १९४७ से १९५३ तक वे मठ-मिशन के न्यासी-परिषद् एवं सह-महासचिव के पद पर बेलूड़ मठ में कार्यरत रहे। १९५३ से १९६३ तक वे अद्वैत आश्रम, कोलकाता के अध्यक्ष थे। १९६३ में वे पुन: सह-महासचिव, १९६६ में महासचिव, १९७९ में वे रामकृष्ण मठ-मिशन के सह-उपाध्यक्ष तथा १९८५ में संघाध्यक्ष हुए। वे एक योग्य व्यक्ति थे। इस प्रसंग में खलीफा अली की उक्ति स्मरण योग्य है। वे उत्तराधिकारी के रूप में प्राप्त खलीफा के पद पर चार बार हार कर चार बार उस पद पर अभिषिक्त हुए और कहा, ''संसार में तुम जो पद प्राप्त करोगे, वह तुमको खोजते हुए आ रहा है, अत: तुम उसकी खोज न करते हुए निश्चिन्त भाव से बैठे रहो।''

साधु समाज में वैराग्यवान, प्रेमिक, पवित्र, शास्त्रज्ञ एवं नि:स्वार्थ संन्यासी सदैव सम्मान पाते हैं। ये विलक्षण गुण गम्भीर महाराज के जीवन में देखने को मिलते हैं तथा संघ के साधुगण उनके इस गुण को सर्वसम्मति से स्वीकार करते हैं। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया था कि गीता के निम्नलिखित श्लोक को वे अपने जीवन में अनुपालन करने का प्रयत्न करते थे –

ज्ञेय: स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते।। गीता ५/३

अर्थात् हे अर्जुन! जो लोग कुछ भी आकांक्षा नहीं करते, वे सदा ही संन्यासी हैं, ऐसा जानना, क्योंकि सुख-दुख, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों से मुक्त व्यक्ति कर्मबन्धन से सहज में मुक्त हो जाता है।

मैंने दीर्घकाल तक उनके साहचर्य में रहकर देखा है कि गम्भीर महाराज काम-कांचन त्यागी एक निष्कलंक संन्यासी थे। उनमें कर्मशक्ति एवं बौद्धिक शक्ति अद्भुत थी। उनकी सत्यनिष्ठा, प्रखर बुद्धि, पवित्र जीवन और रामकृष्ण-विवेकानन्द के प्रति उनकी भक्ति ने उनके व्यक्तित्व को आदर्शोज्ज्वल कर दिया है। अनुवीक्षण यन्त्र छोटे पदार्थों को बड़ा करके दिखाता है, दूरवीक्षण यन्त्र दूर के पदार्थ को समीप करके दिखलाता है, किन्तु बड़े पदार्थ को छोटा करके दिखलाने का यन्त्र भौतिक विज्ञानशास्त्र में उल्लेखित होने के बावजूद भी उसका व्यवहार सदैव नहीं किया जाता। स्वामी गम्भीरानन्द जी महाराज जैसे महान व्यक्तित्व को अपने अल्प बुद्धि से मापने का प्रयत्न करना स्वयं को तीसरी श्रेणी के यन्त्र के रूप में सोचने जैसा है। वे कर्मक्षेत्र में कठोर एवं लोक-व्यवहार में कोमल स्वभाव के थे। उनके इन दोनों पक्षों को देखने का सौभाग्य मुझे मिला है।

इसके बाद भी पुनश्च रह ही जाता है। इस स्मारकग्रन्थ (स्वामी गम्भीरानन्द : एक महाजीवनेर कथा) (बंगला) में स्वामी गम्भीरानन्द महाराज के बारे में मैंने एक संक्षिप्त स्मृति लिखी है। इस भूमिका को लिखते समय तीन विदाई घटनाएँ मेरे मानस-पटल पर उजागर हो रही हैं।

बेलूड़ मठ, शनिवार, २२ अक्तूबर, १९७७,
सुबह ७.३० बजे

मैं मठ से हॉलीवूड जाने वाला था। ठाकुर मन्दिर के पीछे वाले मकान के बरामदे में गाड़ी के लिए मैं प्रतीक्षा कर

रहा था। पूजनीय गम्भीर महाराज पुराने मिशन ऑफिस के ऊपरी तल्ले से पैदल चलकर मुझे देखने के लिए आये। मैंने कहा, ''महाराज, आप इतना कष्ट करके क्यों आये? मैं तो कल ही आप से विदाई लेकर आया था।'' उन्होंने कहा, ''तुम इतने दूर चले जाओगे, इसलिए एक बार देखने के लिए आ गया।'' वे उस समय मठ-मिशन के महासचिव एवं वरिष्ठ संन्यासी थे, और मैं एक साधारण युवा संन्यासी था। उनकी निरभिमानता एवं मेरे प्रति उनके प्रेम को देखकर मैं मन्त्र-मुग्ध हो गया।

स्वामी गम्भीरानन्द

हावड़ा स्टेशन, मंगलवार, २६ अक्तूबर, १९८२, सन्ध्या ६.१५ बजे

पूजनीय गम्भीर महाराज उस समय संघ के उपाध्यक्ष थे। दीक्षा देने के लिए वे कहीं जा रहे थे। मठ से स्वामी वन्दनानन्द जी, स्वामी आत्मस्थानन्द जी एवं स्वामी गीतानन्द जी महाराज गम्भीर महाराज को स्टेशन पर छोड़ने के लिए आये थे। मैं भी उनको देखने के लिए अद्वैत आश्रम, कोलकता से गया था। क्योंकि उस यात्रा में उनके साथ दुबारा भेंट नहीं हो सकती थी। स्वामी आत्मस्थानन्द महाराज ने गम्भीर महाराज से कहा, ''महाराज, हमें आइसक्रीम खिलाइये।'' मैंने कहा, ''I shall pay.'' (रुपया मैं दूँगा।) आत्मस्थानन्द जी ने कहा, ''No, Gambhir Maharaj will pay. (नहीं, गम्भीर महाराज रुपया देंगे।) गम्भीर महाराज ने हँसकर कहा, ''My money is in Chetanananda's pocket. (मेरा रुपया चेतनानन्द के जेब में है।) महाराज ने मुझे साधु सेवा करने का अवसर दिया। ७.२० बजे ट्रेन छुटी। उनके साथ अनेक विषयों पर एक घण्टे तक बातचीत चलती रही। ट्रेन छुटने के पहले मैंने महाराज का हाथ अपने सिर पर रखकर कहा, ''महाराज, आप मुझे आशीर्वाद दीजिए।'' तत्क्षण ही मैंने उनके स्नेहमय चेहरे को देखा।

जयरामवाटी, शनिवार, २५ अक्तूबर, १९८६, दोपहर १२.३० बजे

इस दिन सुबह के समय गम्भीर महाराज ने यहाँ पर एक सौ भक्तों को मन्त्र-दीक्षा दिया। महाराज का दोपहर में भोजन होने के बाद, उनके विश्राम करने के पूर्व मैं उनके कमरे में गया तथा उनको बिना बताये उनका एक फोटो खींच लिया। कैमरा फ्लैस होने पर महाराज ने सेवक जगदीश से कहा, ''ऐ! मेरे आँखों पर किसने प्रकाश डाला?'' मैंने कहा, ''महाराज, मैंने आपका एक फोटो लिया। आप तो इस समय विश्राम करेंगे तथा कल रामहरिपुर चले जायेंगे। मैं आज ही प्रसाद लेकर कोलकाता वापस चला जाउँगा। इस यात्रा में आपसे पुन: भेंट नहीं होगी। आप मुझे आशीर्वाद दीजिए।'' उन्होंने उन्मुक्त हृदय से आशीर्वाद दिया। उनके साथ यही मेरी अन्तिम भेंट थी।

स्वामी गम्भीरानन्द जी महाराज का दिव्य-जीवन साधु-भक्तों को दिव्य-प्रेरणा दे, भगवान से यही मेरी प्रार्थना है। **(क्रमश:)**

पृष्ठ २३४ का शेष भाग

जन्म देता है। उस त्याग का एक काना-कौड़ी (एक पैसा) भी मूल्य नहीं है। ईश्वर के प्रति आकर्षण से ही सब त्याग हो जाता है। इस प्रकार दृष्टान्त शास्त्र में है। देखो न, गोपियाँ श्रीकृष्ण को प्राप्त न कर भी उनके प्रति तीव्र आकर्षण का अनुभव की थीं। उस आकर्षण के लिये ही सब कुछ त्याग करके आ सकी थीं और आकर उनको प्राप्त की थीं।

प्रश्न – महाराज! किस प्रकार कर्म उपासना के रूप में करना सम्भव हो सकता है?

महाराज – जो कार्य कर रहे हो, वह ठाकुर का है, इस मनोभाव से करने पर कर्म उपासना हो जायेगा। अहंकार, अभिमान के वशीभूत होकर कार्य करने से, वह उपासना नहीं होगा।

– राजा महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द जी) ने कहा है – 'कार्य करते-करते भगवान का नाम-जप करना'। 'कर्म ही उपासना है' का अर्थ यही है क्या?

महाराज – क्या ऐसा होता है? हो सकता है कि तुम एकाउन्ट कर रहे हो। तब जप कैसे करोगे? जप करने के लिये रजिस्टर (खाता) में केवल रामनाम लिखना ही अच्छा है। (सभी हँसते हैं)। वैसी बात नहीं है। कार्य के प्रारम्भ में उनको पुकाराना और कार्य के अन्त में उनका स्मरण करना। जो कार्य कर रहे हो, वह उपासना है, वह उन्हीं का कार्य है, इसी भाव को बनाए रखने का प्रयास करना। माधवानन्द जी कहते थे, हमलोग कर्म और पूजा कर सकते हैं। किन्तु स्वामीजी उससे सन्तुष्ट नहीं हैं। वे चाहते हैं – कर्म ही पूजा। **(क्रमश:)**

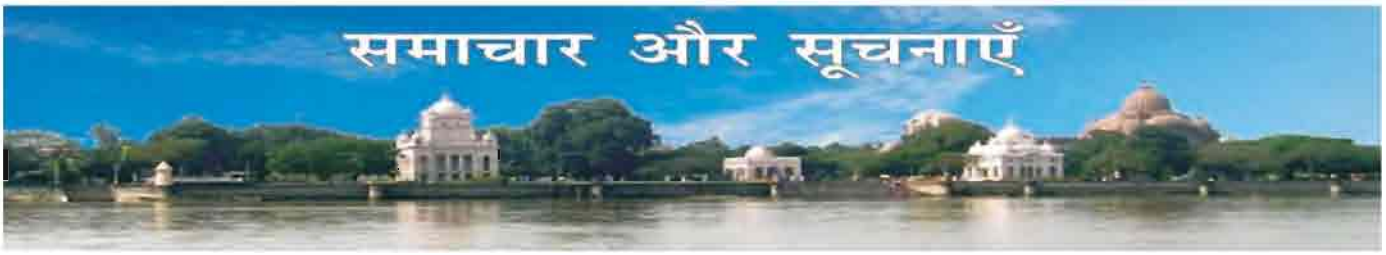

विवेकानन्द जयन्ती समारोह, रायपुर- २०२०

स्वामी विवेकानन्द जी की १५८वीं जयन्ती के उपलक्ष्य में रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर द्वारा किए गए विभिन्न कार्यक्रमों की संक्षिप्त रिपोर्ट –

विभिन्न प्रतियोगिताओं का आयोजन

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सत्संग भवन में प्रतिदिन सन्ध्या ६ बजे विभिन्न प्रकार की प्रतियोगिताएँ आयोजित की गयीं –

३ जनवरी, २०२० को अन्तर्महाविद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता का आयोजन किया गया। विषय था – ''**नेतृत्व करने के पहले आज्ञाकारी बनने का स्वामी विवेकानन्द का सन्देश**''। इसमें दिशा महाविद्यालय, रायपुर के अमेय गुजरे ने प्रथम और जितेन्द्र कुमार साहु ने द्वितीय पुरस्कार प्राप्त किया। इस सत्र की अध्यक्षता श्री हिमाचल मढ़रिया ने की।

४ जनवरी को अन्तर्महाविद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता थी, जिसमें **'जगत के प्रति मेरा व्यवहार मानवतापूर्ण है'** पर शासकीय नागार्जुन स्नातकोत्तर विज्ञान महाविद्यालय, रायपुर के खेमराज यादव ने प्रथम और **'मेरे विचार के गरीबी उन्मूलन'** पर दिशा महाविद्यालय, रायपुर के जितेन्द्र कुमार साहू ने द्वितीय पुरस्कार प्राप्त किया। इस सत्र की अध्यक्षता डॉ. विप्लव दत्ता ने की।

५ जनवरी को अन्तर्महाविद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता थी, जिसका विषय था – ''**इस सदन की राय में भारत के गरिमामय विकास के लिये कृषि विकास आधारभूत होना चाहिए।**'' शासकीय नागार्जुन स्नातकोत्तर विज्ञान महाविद्यालय, रायपुर की छात्रा आकृति द्विवेदी को पक्ष में प्रथम और इसमें दिशा महाविद्याल, रायपुर के प्रभात सिंह को विषय के विपक्ष में द्वितीय पुरस्कार मिला। इस सत्र की अध्यक्षता श्री विनोद कुमार लाल ने की।

६ जनवरी को '**इस सदन की राय में भारत में सर्वसाधारण की भाषा के रूप में हिन्दी भाषा अधिक उपयुक्त है'** विषय पर अन्तर्विद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता थी। इसमें शिवोम विद्यापीठ, रायपुर की छात्रा कु. परिधि शर्मा ने प्रथम और मदर्स प्राईड उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, सुन्दर नगर, रायपुर की छात्रा कु. आराध्या पाण्डेय तथा विवेकानन्द विद्यापीठ, कोटा के छात्र दीपेन्द्र बारले ने द्वितीय पुरस्कार प्राप्त किया। इस सत्र की अध्यक्षता पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय, रायपुर के अर्थशास्त्र विभागाध्यक्ष डॉ. रवीन्द्र ब्रह्मे ने की।

७ जनवरी को अन्तर्विद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता थी। इसमें होली क्रास उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, रायपुर की श्रीप्रिया तिवारी ने **'बढ़ता वैश्विक तापमान चिन्ताजनक'** विषय पर प्रथम और शिवोम विद्यापीठ, रायपुर की परिधि शर्मा ने **'मनुष्य स्वयं अपना भाग्य निर्माता है'** विषय पर द्वितीय पुरस्कार प्राप्त किया। इस सत्र की अध्यक्षता आर. जी. भावे, पूर्व संचालक, उच्च शिक्षा विभाग ने की।

८ जनवरी को अन्तर्विद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता का आयोजन था। विषय था – '**मेरे लिये उपयोगी स्वामी विवेकानन्द का सन्देश**।' इसमें मदर्स प्राईड उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, सुन्दर नगर, रायपुर की छात्रा कु. आराध्या पाण्डेय ने प्रथम और होली क्रास उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, रायपुर की श्रीप्रिया तिवारी और विवेकानन्द विद्यापीठ, कोटा, रायपुर के दीपेन्द्र बारले ने द्वितीय पुरस्कार प्राप्त किया। इस सत्र की अध्यक्षता पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय, रायपुर के बायो टेक्नोलॉजी के डॉ. एस. के. जाधव जी ने की।

९ जनवरी, को 'अन्तर्माध्यमिक शाला विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता' का विषय था – '**स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि में मनुष्य निर्माणकारी शिक्षा।**' इसमें जतनदेवी डागा उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, रायपुर की कुमारी वृद्धि बैद ने प्रथम और शिवोम विद्यापीठ, रायपुर कुमारी वृद्धि शर्मा ने द्वितीय पुरस्कार प्राप्त किया। इस सत्र की अध्यक्षता पं. रविशंकर

माननीय मुख्यमन्त्री श्री भूपेश बघेल, स्वामी सत्यरूपानन्द जी एवं अन्य

शुक्ल विश्वविद्यालय, रायपुर के कम्पयूटर अध्ययनशाला के विभागाध्यक्ष डॉ. संजय कुमार ने की।

१० जनवरी को 'अन्तर्माध्यमिक शाला वाद-विवाद प्रतियोगिता' थी। विषय था – **'इस सदन की राय में धनवान होने की अपेक्षा चरित्रवान होना अधिक अच्छा है।'** इसमें विवेकानन्द विद्यापीठ, आदर्श आवासी उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, रायपुर के छात्र नवीन भार्गव ने पक्ष में प्रथम और तर्ण कुर्रे ने पक्ष में ही द्वितीय पुरस्कार प्राप्त किया। इस सत्र की अध्यक्षता डॉ. सुभाष चन्द्राकर, प्रा. राजनीतिशास्त्र, दुर्गा महाविद्यालय, रायपुर ने की।

पण्डित अखिलेश शास्त्रीजी

११ जनवरी को 'अन्तर्प्राथमिक शाला पाठ-आवृत्ति प्रतियोगिता' थी। इसमें विवेकानन्द विद्यापीठ आदर्श आवासी उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, कोटा, रायुपर के छात्र ओंकार कोसले ने प्रथम और वीर छत्रपति शिवाजी इंगलिश मिडियम स्कूल, रायपुर की छात्रा सुकृति शर्मा ने द्वितीय पुरस्कार प्राप्त किये। इस सत्र की अध्यक्षता सह-वनसंरक्षण सम्पदा अधिकारी श्री सुबीर तिवारी ने की। सभी प्रतियोगिता-सत्रों का आयोजन एवं संचालन स्वामी ब्रजनाथानन्द जी ने किया।

राष्ट्रीय युवा दिवस मनाया गया

१२ जनवरी, २०२०, रविवार को पं. रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर और विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के संयुक्त तत्त्वावधान में विश्वविद्यालय प्रांगण में 'राष्ट्रीय युवा दिवस' मनाया गया। इसमें शहर की राष्ट्रीय सेवायोजना की इकाई, विवेकानन्द विद्यापीठ के छात्रों ने स्वामी विवेकानन्द जी को श्रद्धांजलि अर्पित की। प्रात: ९.०० बजे विश्वविद्यालय में प्रशासनिक भवन के सामने स्वामी विवेकानन्द जी मूर्ति पर रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज, पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो. केशरीलाल वर्मा, डॉ. ओमप्रकाश वर्मा आदि ने पुष्प अर्पित किए। उसके बाद विश्वविद्यालय के कला भवन में 'विवेकानन्द का जीवन-दर्शन' पर डॉ. ओमप्रकाश वर्मा, प्रो. केशरीलाल वर्मा, गिरीशकान्त पाण्डये, समरेन्द्र सिंह और स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने बच्चों को सम्बोधित किया। कार्यक्रम प्रभारी एल. एस. कछपाल जी ने सबका स्वागत और मैडम ने कार्यक्रम का संचालन किया। आश्रम की ओर से सबको स्वादिष्ट अल्पाहार और स्वामीजी की पुस्तिका प्रदान की गई।

विवेकानन्द जयन्ती समारोह का उद्घाटन और पुरस्कार वितरण समारोह – १४ जनवरी, २०२० मंगलवार को सन्ध्या ६.०० बजे 'विवेकानन्द जयन्ती समारोह' का उद्घाटन और पुरस्कार वितरण छत्तीसगढ़ के मुख्यमन्त्री श्री भूपेश बघेल की उपस्थिति में सम्पन्न हुआ। प्रथम विजेता छात्र-छात्राओं ने मंच पर आकर अपना व्याख्यान दिया और सभी विजेताओं को मुख्यमन्त्रीजी के द्वारा पुरस्कार प्रदान किया गया। सभा में रामकृष्ण मिशन आश्रम, नारायणपुर के सचिव स्वामी व्याप्तानन्द जी, विवेकानन्द विद्यापीठ, कोटा, रायपुर के सचिव डॉ. ओमप्रकाश वर्मा जी, विशिष्ट अतिथि रायपुर सम्भाग के आयुक्त श्री जी. चुरेन्द्रजी ने छात्र-छात्राओं को सम्बोधित किया। आश्रम-सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने सभा की अध्यक्षता की। स्वामी अव्ययात्मानन्द जी ने आगत अतिथियों का स्वागत किया, मंच संचालन स्वामी देवभावानन्द जी तथा धन्यवाद ज्ञापन स्वामी ब्रजनाथानन्द जी ने किया।

रामायण प्रवचन – स्वामी विवेकानन्द जयन्ती समारोह के उपलक्ष्य में १५ जनवरी से लेकर २१ जनवरी २०२० तक सन्ध्या ७ से ९ बजे तक रामकिंकर विचार मिशन, ऋषिकेश के परमाध्यक्ष श्री मैथिलीशरण 'भाईजी' ने आश्रम-प्रांगण के भव्य पाण्डाल में 'नवधा भक्ति' पर सरस सारगर्भित प्रवचन दिए।

श्री मैथिलीशरण 'भाईजी'

भजनांजलि – १५ जनवरी से २१ जनवरी २०२० तक सायं ६.३० से ७ बजे तक भाईजी के साथ आए कलाकारों ने पांडाल में भजन प्रस्तुत किए।

श्रीमद्भागवत प्रवचन – २२ जनवरी से २५ जनवरी २०२० तक सन्ध्या ७ से ९ बजे तक वृन्दावन से पधारे पण्डित अखिलेश शास्त्रीजी के 'उद्धव व्रज-गमन' पर भक्तिपूर्ण मार्मिक प्रवचन हुए।